अष्टांगहृदय [शारीर - प्रसूतितंत्रम्] - with the commentary प्रदीप्रकाशिका in Hindi by Dr. शंकरलाल कन्हैयालाल भेड़ा - very slightly pinholes in the margin.

Mumbai, 1968.

22

Bill No. 3/07-08

~~1450~~

98

2008-0254

श्री

अष्टाङ्गहृदय शारीरे–प्रसूतितन्त्रम् ।

अर्थप्रकाशिकाटीकायुतम् ।

टीकाकार

आयुर्वेदाचार्य

डाक्टर शङ्करलाल कन्हैयालाल भेड़ा

एम्. बी. बी. एस्.

प्रकाशक

आयुर्वेदालङ्कार वैद्यनाथ शर्मा आयुर्वेदाचार्य

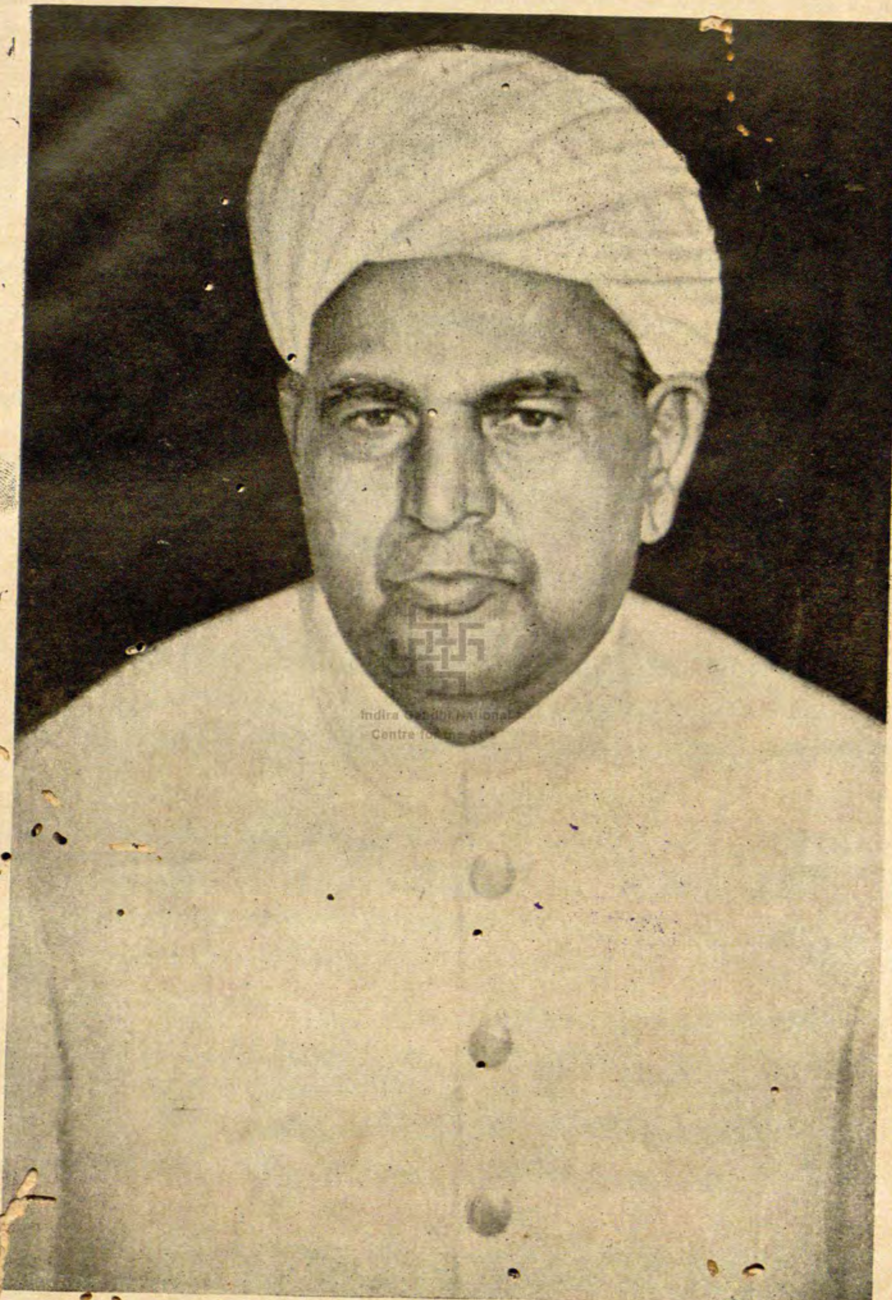
मुद्रक
लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी
निर्णयसागर प्रेस,
२६-२८ डॉ. एम्. बी. वेलकर स्ट्रीट,
मुंबई नं २

पुस्तक मिलने का पता
डा. शंकरलाल भेडा,
एम्. बी. बी. एस्.
६८ A रूंगटा हाउस नेपियन्सी रोड,
बम्बई

वैद्य-वैद्यनाथ शर्मा आयुर्वेदाचार्य
खेमकाट्रस्ट धर्मार्थ औषधालय
फनसवाडी, बम्बई

निर्णयसागर प्रेस
२६-२८ डॉ. एम्. बी. वेलकर स्ट्रीट,
मुंबई नं. २

प्रथम संस्करण १९६८
फाल्गुन शु० द्वितीया
सं. १९-२४



राजस्थानकी विभूति स्व० शेठ श्रीपीरामलजी माखरिया

स्वर्गताय श्रेष्ठिप्रवराय श्रीपीरामलजीमहोदयाय श्रद्धाञ्जलिः

१

व्यापारे निपुणो धनी सुमतिमान् यो मारवाड्यग्रणीः।
सम्पत्तिं विपुलामुपार्ज्य कृतवान् कार्याण्यनेकान्यपि।
नित्यं लोकहिताय, यस्य सततं धर्मे प्रवृत्तिः सदा।
धन्यः श्रेष्ठिवरो गतो दिवमितो मान्यः स पीरामलः॥

२

यो धर्माय तथात्मने च यशसे लोकोपकाराय च।
न्यायोपार्जितमत्र यन्निजधनं तद् दत्तवान् सादरम्।
भक्त्या सात्त्विकदानतः प्रतिदिनं यो मोदमानो भृशम्।
स श्रीश्रेष्ठिवरो मया दिविगतः संस्मर्यते सादरम्॥

३

वंशःख्यातिमितश्च यस्य पितरौ जातौ कृतार्थौ तथा।
जाता जन्मधरापि यस्य धनिनो धन्या प्रतिष्ठान्विता॥
विप्रा येन च तोषिताः, स भगवान् लक्ष्मीपतिः पूजितः।
तस्मै श्रेष्ठिवराय स्वर्गतवते श्रद्धाञ्जलिर्दीयते।

४

दीने यस्य दयालुता समभवत् सत्पात्रदाने रुचिः।
माधुर्यञ्च विराजते स्म वदने यस्याद्भुतं सर्वदा।
नित्यं तत्परता परोपकरणे, कार्ये समुत्साहिता,
ईदृक्सद्गुणमण्डितः स धनिकः संस्मर्यते साम्प्रतम्।

५

श्रीपीरामलतुल्य-मानववरा धन्या वदान्याः पुनः।
शीघ्रं सम्प्रति सम्भवन्तु भुवने लोकोपकाराय च॥
तस्मै स्वर्गगताय साम्प्रतमहं श्रद्धाञ्जलिं श्रद्धया।
दत्वा शाश्वतिकं सुख ञ्च भगवान् दद्यादिति प्रार्थये॥

राजस्थान की विभूति स्व. शेठ श्रीपीरामलजी माखरिया.

इतिहास उन्हीं के बनते हैं, जो काम औरों के आते हैं।
कृतियां उन की मूकसाक्षी हैं जो गुणगान उन्हीं के गाते हैं।

स्वर्गीय शेठ श्रीपीरामलजी का जीवन परमेश्वर की रचना का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। अपने भीतर छिपी हुई अनेक दिव्य शक्तियों का विकास कर शेठजीने अपनी प्रतिभा का प्रकाश फैलाया जो आज भी शरद पूर्णिमा की उज्वल चांदनी की तरह सर्वत्र विद्यमान है।

वास्तव में ऐसे नररत्नों से मानव समाज सदैव लाभान्वित होता आरहा है और भविष्य में भी होता रहेगा। शेठजी का भौतिक शरीर भले ही इस संसार में न हो, उन का यशःशरीर सर्वत्र विद्यमान है, उन की कृतियां साक्षी हैं कि वे कितने दानवीर कृपालु एवं उच्चकोटि के व्यवसायी थे। उन का जीवन दिव्य एवं धन्य है, और धन्य है वह माखरिया परिवार जिस में यह नर रत्न उत्पन्न हुआ, और साथ ही नगर (बगड़) ग्राम जिला (झुंझुनु राजस्थान) भी धन्य है जो इस विभूति का जन्मस्थान है।

बगड़ के जनजीवन में माखरिया परिवार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। चरित्रनायक शेठ पीरामलजी के पितामह शेठ गोविन्दरामजी के समय की बात है। शेठ श्रीगोविन्दरामजी सम्वत् १९१६ में ही बम्बई जाकर मोतियों की दलाली करते थे। इधर बगड़ में मुस्लिम नबाबों का दब दबा था। वे अमानुषिक अत्याचार प्रजा पर कर बैठते थे. बगड की असहाय जनता को यह असहायस्थितिमें सह लेना पडता था। श्रीगोविन्द रामजी को यह परिस्थिति मालूम होने पर उन के हृदय में अपने ग्रामबन्धुओं के प्रति अतिप्रेम के कारण नबाबों के प्रति रोष उभर आया तथा उन्हों ने दृढतापूर्वक इस का विरोध कर के समुचित कार्यवाही की. उस के परिणाम में अन्त में विजय प्राप्त हुई एवं बगड की जनता नें चैन की सांस ली। १९५७ में आप का स्वर्गवास होगया।

शेठ गोविन्दरामजी के दो पुत्र थे । श्रीनागरमलजी तथा श्रीचतुर्भुजजी सं. १९४८ में श्रीचतुर्भुजजी के पुत्ररत्न पैदा हुआ, नामकरण संस्कार से 'पीरामल' नाम रक्खा गया।

'होनहार बिरवान् के होत चीकने पात' वाली बात ।

बाल्यकाल में ही आप तेजस्वी एवं प्रतिभाशाली दीखते थे। व्यापारिकबुद्धि, व्यापारपटुता आदि की झलक स्पष्टतः दिखाई देती थी। आप को देखने वाले व्यक्तियों के हृदय में स्वभावतः ही यह कल्पना उदित होती थी कि वयस्क होने पर यह बालक एक विशेष चमत्कारी तथा अपने परिवार के साथ वगड के नाम को समुज्ज्वल करेगा। 'प्रसादचिन्हानि पुरःफलानि'। आप को भी अपने विकास के लिये वगड का क्षेत्र बहुत छोटा दीखता था। उस समय में न मोटरें थीं न रेल का ही इतना विस्तृत सुविधा थी। बम्बई आने के लिये ट्रेन पकडनेके लिये कोसों पैदल चलना पड़ता था। १२ वर्ष की अवस्था में ही श्रीपीरामलजी ने इस यात्रा की हिम्मत कर ली तथा बम्बई आ पहुँचे। व्यवसाय में लग गये। अल्प समय में ही अपनी कुशाग्रबुद्धि तथा योग्य व्यवहार से सर्वत्र सफलता प्राप्त होती गई। बिना किसी पूंजी के और आश्रय के केवल अपनी असाधारण योग्यता--बुद्धि कौशल एवं बाहुबल पर ही 'श्रीचतुर्भुज पीरामल' फर्म स्थापित कर दिया। यह फर्म तेजी के साथ अपनी उन्नति करने लगा यह वह समय था जब आप की सर्वतोमुखी प्रतिभा अपने व्यवसाय के विकास की तरफ अग्रसर हो रही थी। आज भी यह बम्बई का सुप्रसिद्ध फर्म है। मुख्य व्यवसाय रूई अर्थात् कॉटन का रहा। श्रीपीरामलजी को अपने व्यवसाय में भाग्यने भी बहुत साथ दिया कि इतनी ख्याति प्राप्त हुई कि बम्बई के नामाङ्कित व्यापारियों में गिने जाने के साथ ही लोग आप को कॉटन किंग—रूई व्यवसाय के राजा कहने लगे।

अपने फर्म की, आपने अनेक सुप्रसिद्ध व्यवसायी नगरों में शाखाएँ भी स्थापित की। विकासमान औद्योगिक युग की तरफ भी आपका ध्यान

गया और महाराष्ट्र गुजरात तथा राजस्थान में कपड़े की मीलों को लेकर उन का योग्य सञ्चालन किया। उत्तर प्रदेश में आपने शक्कर मील भी खोली। इस तरह आप सफल व्यापारी के साथ सफल उद्योगपति भी बन गये।

प्रत्येक स्थानपर आप अपनी प्रतिभा एवं व्यवहार चतुरता से लोगों के उलझन पूर्ण झगडों-झमेलों के सुलझाने में अग्रभाग लेते थे। लोग भी श्रद्धा से अपने विवाद आप को सौंप देते थे। आप के न्याय से सभी प्रसन्न होते थे।

राजा, महाराजा, जागीरदारों आदि से भी आप का अच्छा सम्बन्ध था। आप के व्यवहार चातुर्य - उदार मनोवृत्ति - धर्मपरायणता आदि का भी उन पर अच्छा प्रभाव था। इन्दौर जयपुर और कोटा के महाराजा ओं ने तो अपने राज्य का सर्वोच्च सन्मान आप को प्रदानकिया था। कथंचित् विरले ही पुरुषों को ऐसा सम्मान मिलता है।

स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः।
स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभां गतिम्।

शेठ श्रीपीरामलजी ऐसे तो हरेक व्यवसायी की तरह अर्थोपासना में तत्पर थे - महालक्ष्मी का आप पर वरद हाथ भी था। व्यापार में नई-नई समस्याएँ सदा लगी रहती थीं, फिर भी आप में एक विशिष्ट वृत्ति थी जो बहुत इने गिने व्यक्तियों में ही पायी जाती है, वह थी धन की सद्व्यय करने की। बम्बई में तो आने वाले अनेक लोगों को, विभिन्न सामाजिक धार्मिक इत्यादि अनेक संस्थाओं को आप दान देते ही थे, इस के अलावा स्वतन्त्रता आन्दोलन के मूक कार्यकर्ताओं को, देशी राज्यों के कार्य-कर्ताओं एवं कांग्रेस को भी आप मुक्त हाथों से दान देते रहते थे।

इतना कर के भी आप के हृदय में 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' प्रतिदिन लगन लगी रहती थी।

शिक्षा के क्षेत्र में पिछडा हुआ वगड आप को बहुत खटकता था। बम्बई में अपना नाम करने की आप की कोई इच्छा नहीं थी, यश की भी

कोई कामना नहीं थी। आप को तो थी अपने ग्राम-बन्धुओं क प्रति हार्दिक सद्भावनां। भाई बन्धु या अपनी समाज के तरफ ही आप का संकुचित लक्ष्य नहीं था, पर उदार चेता शेठजी समग्र वगड के निवासियों में स्नेह भावना रखते थे। अतः वगड में गृहविहीन तथा निराश्रित लोगों के रहने के लिये एक ग्राम बनाने का सोचा था। अवसर आते ही आपने अपने इस विचार को कार्यरूप में परिणत कर दिया।

न हि शूरा विकत्थन्ते कृत्वा ते दर्शयन्ति हि।

जयपुर राज्य के तत्कालीन प्रधान मंत्री सर मिर्जा इस्माइल इस सद्विचार से बड़े प्रभावित हुए तथा इस ग्राम का शिलान्यास भी उन्हीं के करकमलों द्वारा हुआ। शेठजी की इच्छा नहीं होते हुए भी प्रधानमंत्री ने इस बस्ती का नाम 'पीरामल-नगर' घोषित कर दिया। आजभी इस नगर वासी शेठजी की दिवङ्गत आत्मा व उनके परिवार के प्रति कृतज्ञ हैं। इस नगर के निवासियों को स्थान, बिजली, जल आदि की समुचित व्यवस्था प्रदान कर शेठजी व उनके उत्तराधिकारियों ने उच्चकोटि के परोपकार का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम्।
राशिभिर्वर्द्धमानं स, नैव स्त्री, न पुनः पुमान्।

शिक्षाप्रचार—जो आप का सर्वप्रिय विषय था आपने उस के लिये अनेक प्रवृत्तियां चलाई। बगड़ की जनताने जहांतक हो सका समस्त संस्थाओं में आप का नाम लगाकर अपनी कृतज्ञता प्रकट की। अभी जो संस्थाएँ चल रही हैं—इस प्रकार हैं—

१ पीरामल हायर सेकंडरी स्कूल
२ पीरामल गर्ल्स् " "
३ " " होस्टल
४ " बायज् "
५ " प्राइमरीस्कूल

६ " " मोंटेसरीस्कूल

७ पीरामल गर्ल्स प्रांइमरीस्कूल

८ माखरिया पुस्तकालय.

जनता के स्वास्थ्यरक्षा पर भी आप का प्रचुर ध्यान था, एतदर्थ आपने अपनी धर्मपत्नी के नाम पर श्रीमती महादेवी पीरामल हॉस्पिटल की स्थापना की। बम्बई के सुप्रसिद्ध बम्बई अस्पताल में भी आपने योग्य सहायता की है।

अपने पूज्य पिताजी की पुण्यस्मृति में आपने बगड़ नगर में एक उच्च प्रवेशद्वार भी बनवाया जो बगड़ ग्राम की शोभा बढाने में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

राजस्थान में जलाभाव को लक्ष्य कर कूवे में इंजिन बैठाकर तथा टंकी बनवाकर सर्वप्रथम आपने ही जलव्यवस्था चालू की थी। इस के अलावा अनेक छोटी एवं बडी संस्थाओं शिवालयों, संस्कृत-पाठशालाओं आदि संस्थाओं का जन्म भी उनके दान द्वारा हुआ है। अनेक कूआ, तलाव आदि भी बनवाए हैं। गोरक्षा के महत्वको ध्यान में रखते हुए गोचरभूमि अलग रखवाई है अन्य सामाजिक प्रवृत्तियों में विवाह गृह भी बनवाये हैं, इस तरह आप के दान का स्रोत बहुमुखी रहा है।

दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः।

विशेषता—

आप में यह विशेषता थी कि आप इतने महान् पुरुष होते हुए भी अपनीं संस्थाओं में कार्य करने वाले कर्मचारी, अपने घर के नौकर, मिल-मजदूर तथा हरिजन आदि को अपने कुटुम्बीजनों के समान समझते थे, और उन के दुःख सुख के प्रसङ्ग में पूर्ण सहयोग सर्वात्मना दे कर प्रसन्न होते थे।

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः ।

आप अपनी निन्दा करने वालों के साथ भी अति उदारता का व्यवहार करते थे तथा समय पर सहायता भी करते थे ।

इस तरह 'राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक, व्यापारिक आदि अनेक क्षेत्रों में अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रदर्शित कर ता. ५ से. १९५४ में स्वर्गवासी हुए ।

आप के उत्तराधिकारी तीन पुत्र रत्न हैं, श्रीबाबूलालजी, श्रीगोपीकृष्णजी श्री डा. मोहनलालजी । इन को शेठजी ने समुचित शिक्षित तथा संस्कारित किया, शेठजी द्वारा संचालित विभिन्न प्रवृत्तियां तथा संस्थाओं, एवं उद्योगों को सुव्यवस्थितरूप से संचालन तथा बिकसित कर रहे हैं ।

आयुर्वेद महर्षि यों के सिद्धान्तानुसार—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्

शेठजीनें अपने जीवन का लक्ष्य बना रक्खा था ।

श्रीवेदव्यासजी नें जो—

नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित् । यह लोकोत्तर ऐसे महापुरुषों के लिये ही कहा है ।

तन से सेवा कीजिये, मन से भले विचार ।
धन से इह संसार में करिये पर उपकार ।

अन्त में जगन्नियन्ता जगदीश्वर से प्रार्थना है कि तीनों भ्राता चिरायु हों तथा देश—समाज के उन्नत करनें मे अपना सहयोग प्रदान करते रहें । ऐसे महापुरुष के जीवन चरीत्र को लिखने का मोका मिला- इसके लिये भी आत्मा को धन्य मानता हूं ।

निवेदक

वैद्य कन्हैयालाल भेडा

नमः श्रीआयुर्वेदाचार्येभ्यः

प्रस्तावना

ब्रह्मादिदेवान् प्रणमामि भक्त्या, विशेषतो भेडमृषिं प्रणम्य ।
विद्वद्वरान् वेदनिधींश्च नत्वा विधीयते ह्यर्थप्रकाशिका च ॥ १ ॥
वाग्भटस्य वचसां क गौरवं, मामकी क च लघीयसी मतिः ।
हृदयस्य तरणेऽस्मि यत्नवान्, पितृगुरुपथपोतमाश्रितः ॥ २ ॥

आयुर्वेद—एक लोकोपयोगी जनजीवनसे नित्यप्रतिसम्बद्ध शास्त्र है। यह अथर्ववेदका उपाङ्ग है। वेदोंकी तरह यह भी नित्य तथा अनादि है। सर्वप्रथम महर्षियों को चिरजीवन की आकांक्षा हुई। यथा यजुर्वेद ३६-२४, ईशोपनिषद २। अथर्ववेद में विविध रोगोंके लक्षण-निदानचिकित्सादिका विस्तृत वर्णन ९-८-६। ९-१७-२१। ५-४-१। ६-१३७। १-२३-१। २-३२-१। २-३१-४-६। ४-१२-१। ७-५६ में हुआ है। यहां तक कि अथर्व में ७३१ सूक्त हैं, उन में ४४४ सूक्त आयुर्वेद विषय के हैं, २४४ राजधर्म के ७५ समाज-व्यवस्था के, ५६ अध्यात्मविद्या के, अवशिष्ट विभिन्नविषय प्रतिपादक हैं। सूक्ष्मरूप से अन्यवेदों में भी मिलते हैं—यथा-ऋग्वेद १-११६-१६, १-२४-९, २-३३-४-७। १-२४-९। यजुर्वेद में औषधिविज्ञानपर मन्त्र भी कुतूहल जनक हैं—यत्रौषधीः (अ. १२ मं. ८०) याः फलिनीः (१२-८९) नाशयित्री बलासस्यार्शसः (१२-९७) इत्यादि। इस तरह आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त वेदोंमें यत्र तत्र गर्भीकृत एवं अनुसन्धेय हैं।

आयुर्वेद—शब्द का अर्थ होता है जो दीर्घजीवन के बतलानेवाले तथा उपायों के द्वारा उस को प्राप्त करानेवाले अविनाशी शास्त्र। यह मानवी सृष्टि का कल्याण करनेवाले हितकारी एवं विविधज्ञानविज्ञानों में से सब से समृद्ध तथा उपयोगी ज्ञान है। यह शास्त्र केवल अपने या केवल एक दो व्यक्तियों के लिये ही उपयोगी नहीं होता है, अपि तु इसके द्वारा कुटुम्ब

समाज एवं समस्त देश का उपकार तथा अभ्युन्नति होकर समस्त राष्ट्रका मङ्गल होता है। आयुर्वेद विज्ञान की प्रकाम प्रगति का वर्णन तत्कालीन बौद्ध ग्रन्थोंमें भी मिलता है। यथा—१ रोहन्तमिगजातकमें ५०१, २ हंस-जातकमें ५०२; ३ कामनीतजातकमें २२८, ४ सिविजातकमें ४९९, ५ असिलक्खणजातकमें १२६। ६ लित्तजातकमें ९१, ७ अब्भन्तरजातकमें २८१; ८ महावग्ग में ८-१-३१, ९ महावग्ग में ६ अध्यायसे, १० महावग्ग में ६-१३-१ इत्यादि में भी समस्त रोगों की सुविशद चिकित्सादि वर्णित मिलते हैं। **आयुर्वेद के अर्थ की विशालता**—आयुर्वेद केवल मनुष्योंका ही चिकित्साशास्त्र नहीं है, किन्तु तरुलता-पशुपक्षी प्रभृति की चिकित्सा भी आयुर्वेद के अङ्गीभूत हैं। फलतः आयुर्वेद का वर्णन उपरोक्त ग्रन्थों में तो है ही, किन्तु लोक से सम्बन्ध रखनेवाले पुराणों में भी इसकी चर्चा नितान्त स्वाभाविक है। यथा—वृक्षायुर्वेदका वर्णन अग्निपुराण में २८१ अध्याय में तथा गरुडपुराण में १९७ अध्याय में। एवमेव गजचिकित्सा अग्निपुराण के २८६ अध्याय तथा अश्वचिकित्सा यहां इस में ही २८७ २८९ अध्यायोंमें विस्तृत वर्णित है।

आयुर्वेद के आचार्यगण तरुलतादि को स्थावरप्राणी मानते हैं। उन्हों ने इस तरह विचार किया है 'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यम्' अर्थात् जो द्रव्य इन्द्रिययुक्त है, उस को चेतन कहते हैं। यह चेतन—अन्तश्चेतन और बहिश्चेतन भेदों से दो प्रकार का होता है। इस में अन्तश्चेतन—वनस्पति वर्ग है। इन में अन्तश्चेतनता का प्रत्यक्षीकरण का उदाहरण भी चक्रपाणीने दिया-है तथा हि सूर्यभक्तायाः—यथा सूर्यो भ्रमति तथा तथा भ्रमणात् दृगनुमीयते। तथा लवली मेघस्तनितश्रवणात् फलवती स्यात्। बीजपूरकमपि शृगालादिवसागन्धेनातीवफलवद् भवति। आम्रवृन्तानाञ्च मत्स्यवसासेकात् फलाढ्यतया रसनमनुमीयते। अशोकस्य च कामिनीपादतलाहतिसुस्विन-स्तबकितस्य स्पर्शनानुमानम्। (चरकसंहिता (सू. १-४८)

अर्थात्–सूर्यमुखी का पुष्प सूर्य के अनुसार घूमता रहता है। लजवन्ती स्पर्श करने पर सिकुड जाती है। लवली में मेघगर्जनसे फल आता है। विजौरानींबू में शृगाल आदि जन्तुओंकी वसा के गन्ध से फल की उत्पत्ति अधिक होती है। आम्र में मत्स्यवसा के डालने से अधिक फलप्राप्ति होती है। अशोकवृक्ष के मूलपर कामिनी अपने पैर से मारती है तभी उस के गुच्छे खिलते हैं।

अथर्व शौ. सं. (६।१०९।२) में 'पिप्पल्यः समवदन्त आयतीर्जननादधि। यं जीवं अश्नवामहै, न सरिषन्ति (हिंस्यते) पुरुषः,' इस मन्त्र में पिप्पलीनामक औषधी का सम्वाद प्रदर्शित किया है।

यजुर्वेद माध्य. (१२।९६) में भी 'ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा। यस्मै वृणोति ब्राह्मणः तं राजन् १ पारयामसि' इस में अपने राजा सोम को कहती हैं कि–हे राजन्! ब्राह्मण वैद्य औषधियों का जिस के लिये प्रयोग करता है, उस को रोगों से मुक्त कर देती हैं।

मनुनें भी (१२-९) अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः। महाभारत शान्तिपर्व (१८४-७) में भी 'जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते'। वा. रा. (६-७४-२९-३२) में—

> द्रक्ष्यस्योषधयो दीप्ता दीपयन्तीर्दिशो दश।
> तथा—निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव।
> ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाः सहस्रशः।
> (२।९४।२१)

अर्थात् चित्रकूट पर्वत पर ऐसी हजारों औषधियें उत्पन्न होती थीं, जो रात्रि के समय चमकती रहती थीं। उन का प्रकाश अग्नि की ज्वालाओंकी तरह जैसा प्रतीत होता था, वे दूरसे ही पहचानी जाती थी। वैशेषिकदर्शन (४-२-५) उपस्कार में भी–"वृक्षादयोऽपि शरीरभेदा एव भोगाधिष्ठानत्वात्। न खलु भोगाधिष्ठानत्वमन्तरेण जीवन-मरणप्रजागरण-

भेषजप्रयोग-बीजसजातीयानुबन्धानुकूलोपगमप्रतिकूलापगमादयः सम्भवन्ति' इत्यादि । इस वर्णन में वृक्षोंकी वृद्धि-सूखना-क्षतवृक्ष के अङ्गों की पूर्ति-वृक्षों की औषधी आदि तथा वृक्षों की चेतनता आदि वर्णित हुआ है ।

पातञ्जलमहाभाष्य (३।१।७) सूत्र के भाष्य में भी—

'सर्वस्य वा चेतनत्वात्' अर्थात् सभी सांसारिक पदार्थ चेतनावाले होते हैं । वहां यह उदाहरण दिया है—

'अथवा सर्वं चेतनावत् । एवं हि आह—कंसकाः सर्पन्ति, शिरीषोऽयं स्वपिति' । इत्यादि ।

विज्ञानभिक्षुने सांख्यदर्शनभाष्य (६।११।२) में भी—

'न बाह्यज्ञानं यत्रास्ति, तदेव शरीरम् - इति नियमः, किन्तु वृक्षादीनां अन्तःसंज्ञानामपि भोक्तृभोगायतनत्वं शरीरं मन्तव्यम्' इत्यादि । इसलिये वृक्षायुर्वेद, हस्त्यायुर्वेद, अश्वायुर्वेद आदि आयुर्वेद के विभिन्न अङ्ग माने गये हैं ।

भारत के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. श्री, जगदीशचन्द्र वसु महोदयने अपनी वैज्ञानिक परीक्षाओं द्वारा वृक्षादि को स्थावर प्राणी सिद्ध करके पूर्वनिर्दिष्ट प्राचीन महर्षियों के विज्ञान की महिमा में महत्त्व प्रदर्शित किया है । काश्यपसंहिताकारने भी 'तस्माद् ब्रुमः ऋग्वेदयजुर्वेद-सामाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमोऽयमायुर्वेदः' अर्थात्—वेद आयुर्वेद के ही आश्रित है । इसलिये ऋक्-यजु-साम तथा अथर्ववेद के अतिरिक्त आयुर्वेद को पञ्चम वेद कहा है ।

संसार में जितने भी प्राचीन साहित्य उपलब्ध हैं उन सब से प्राचीन वैदिक साहित्य (वेद) हैं, इस में दो मत नहीं हैं । इस प्रकार इस वैदिकविज्ञान का तथा उस के अन्तर्गत आयुर्वेदविज्ञान का भी समय प्राचीन ही स्थिर होता है । इस वैदिकविज्ञानरूपी भण्डार में अन्य विज्ञानों की तरह आयुर्वेदविज्ञान भी अनेक प्रकार से परिपूर्ण दिखाई देरहा है ।

इस वैदिक विज्ञानरूपी भूमिका में 'ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदम्' के आदेशानुसार ब्रह्मा के विज्ञानसम्बन्धी बीज को लेकर उत्पन्न हुआ। यह प्राचीन आयुर्वेदरूपी कल्पवृक्ष काल के ग्रास से अवशिष्ट कुछ फलों से शिष्यपरम्पराद्वारा आज भी लोगों को जो जीवदान कर रहा है, यह भी गर्व के साथ सन्तोष का ही विषय है। मेरे ध्यानसे बहुत सामग्री इसमें है।

बहुत से प्राचीन संहिताओंके विलोप होजाने के कारण क्षतिग्रस्त आयुर्वेद की अवशिष्ट महिमा को स्थिर रखने के लिये अत्यन्त प्राचीन काल से चरकसंहिता तथा सुश्रुतसंहिता एवं वृद्धवाग्भट यह वृद्धत्रयी ही मिलती है। कुछ समय से स्व. नेपाल राजगुरु महामनीषी श्री. पं. हेमराजजी एवं स्वर्गीय आयुर्वेदमार्तण्ड गुरुदेव श्रीयादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य के स्तुत्य प्रयास से 'काश्यपसंहिता' का भी प्रकाशन हुआ है।

अष्टाङ्गहृदय—श्रीवाग्भटाचार्यने अष्टाङ्गों के ग्रन्थों का अवगाहन करके प्रथम अष्टाङ्गसंग्रह नामक गद्यपद्यात्मक महान् ग्रन्थ की रचना की। अनन्तर अध्ययनाध्यापनादि में इस का अल्प प्रचार तथा कुछ कठिन एवं विस्तृत देख कर अष्टाङ्गहृदय नामक नातिसंक्षेप विस्तर पद्यमय ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की रचना में आयुर्वेद के प्रायः सभी ग्रन्थों का अध्ययन तथा उन में निरूपित समस्त विषयों का अवगाहन कर के नवीन पद्धति से निर्माण तथा नूतन छन्दों एवं सुललित पदों में गुम्फन कर के अत्यधिक प्रशंसनीय कार्य किया है। अत एव चरक सुश्रुत के अनन्तर वैद्य-संमाज में अष्टाङ्गहृदयका ही स्वाध्याय-प्रवचनद्वारा प्रचार चला आरहा है।

इस ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन आदि को श्रीआचार्य ने इन शब्दों में कहा है—

इति तन्त्रगुणैर्युक्तं तन्त्रदोषैर्विवर्जितम्।
चिकित्साशास्त्रमखिलं व्याप्य यत् परितः स्थितम्।
विपुलामलविज्ञानमहामुनिमतानुगम्।
महासागरगम्भीरसंग्रहार्थोपलक्षणम्।

अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन
योऽष्टाङ्गसंग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनन्तफलमल्पसमुद्यमानां
प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्। (अ. हृ. उ. ४०)

अर्थात्—महासागर के समान गम्भीर अष्टाङ्गसंग्रह में प्रवेश का द्वारभूत तथा अष्टाङ्ग आयुर्वेदरूप महासमुद्र का मन्थन करके जो अष्टाङ्ग-संग्रह महान् अमृतराशि प्राप्त हुआ है, उसी से सङ्ग्रह कर अनल्पफल एवं अल्प परिश्रमशील अभ्यासी छात्रों के प्रसन्नतार्थ यह अष्टाङ्गहृदय बनाया गया है।

इसीलिये योग्यवैद्यों के निर्माण की कामना को ध्यान में रखकर अन्त में कहा है—

हृदयमिव हृदयमेतत्सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः।
कृत्वा यच्छुभमाप्तं शुभमस्तु परं ततो जगतः।

(अ. हृ. उ० ४०-२९)

यह अष्टाङ्गहृदय समस्त आयुर्वेदीय वाङ्मयरूपी महार्णव का हृदय है। इस की रचना करने से जो पुण्य प्राप्ति हुई है, उससे समस्त जगत् का कल्याण हो।

यह अष्टाङ्गहृदय अन्वर्थनामधेय प्रकरणग्रन्थ है। यह सूत्र-शारीर-निदान-चिकित्सा—कल्प—उत्तरस्थानों से विभाजित होने पर भी समस्त आयुर्वेदशास्त्र का प्रवेशद्वार होने से प्रथम शारीरस्थान का ही अनुवाद किया गया है।

इस शारीरस्थान में ६ अध्याय हैं। इनमें क्रमशः दो दो अध्यायों में प्रसूतिविज्ञान, शारीरविज्ञान, विकृतिविज्ञान नामक तीन विषयों का वर्णन हुआ है। इस में प्रथमकी अध्यायद्वय में 'प्रसूतितन्त्र' का वर्णन किया है।

इस तन्त्रमें गर्भावक्रांति,

गर्भोपादानविज्ञान	अपरादिविज्ञान	गर्भपोषणविज्ञान
गर्भवृद्धिविज्ञान	प्रगल्भगर्भविज्ञान	गर्भिणीविज्ञान
गर्भनिर्णयविज्ञान	गर्भिणीचर्याविज्ञान	परीक्षणविज्ञान
प्रसवविज्ञान	प्रसवोपक्रमविज्ञान	शीर्षोदयविज्ञान
मुखोदयविज्ञान	ललाटोदयविज्ञान	बव्हपत्यताविज्ञान
सूतिकाविज्ञान		

आदि समस्त प्रसूतितन्त्र में प्रतिपाद्यविषयों का संक्षेप में सारगर्भित वर्णन हुआ है। इस तरह इन दो अध्यायों में समस्त प्रसूतितन्त्र का वर्णन महामनीषी श्रीवाग्भटाचार्य ने किया है। इस तन्त्र को १६२–१ श्लोकों में सम्पूर्ण इन विषयों का संग्रह कर के ग्रन्थकारने अत्यन्त कौशल प्रदर्शित किया है।

यद्यपि वर्तमानकालिक पाश्चात्य प्रसूतितन्त्र के विषय इस की अपेक्षा अत्यन्त बढे हुए ग्रन्थों में वर्णित हैं तथापि भारतीय संस्कृतभाषा का भी यह ग्रन्थ अपूर्व बव्हर्थबोधक अल्पशब्दों में ग्रथित पद्यमय युगानुरूप प्रबन्धरचना से समस्त विषयों को अत्यन्त अल्प दर्पण द्वारा विशाल प्रासादोंके प्रतिबिम्ब की तरह सुस्पष्ट सुसंग्रहीत दीखता है। यह महती कुशलता भारतीय संस्कृतभाषा के ग्रथन में महाचतुर विद्वानों की है। अत एव 'गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमास्मि' इस भक्तवत्सला करुणा-मसृणहृदया भगवती सरस्वती के आदेश का परिपालन करनेवालों ने ही इस संस्कृत विद्याशेवधि की सर्वविधि प्राणपण से रक्षा की है।

मेरे ध्यान से यह आयुर्वेद के शारीर का सार है। तथा उपलब्ध वैद्यक-ग्रन्थों का बीज है।

श्रीवाग्भटनें 'प्रसूतितन्त्र' में कोई भी आवश्यक अङ्ग नहीं छोडा है। दुरूह विषयोंकी अतिसरल प्रकार से अर्थावगति भी की है। इसीलिये

चरकसंहिता के शारीर में अध्यात्मविषय का जो बहुत अधिक वर्णन है, उस को इस अध्याय के प्रारम्भ के—

शुद्धे शुक्रार्तवे सत्वः स्वकर्मक्लेशचोदितः ।
......नानायोन्याकृतिः सत्वो धत्तेऽतो द्रुतलोहवत् ।

इन चार श्लोकों में ही वर्णन कर दिया है तथा सत्कार्यवाद आदि भी ।

यही नहीं वर्तमान गूढार्थतत्त्वों का भी विशदता से विवेचन हुआ है । सर्वजनोपयोगी ग्रन्थरत्नके अर्थों को भली भांति बोधन करने में समर्थ संस्कृत में एक सर्वाङ्गसुन्दर नामक परमविद्वान् वैद्यवर्य अरुणदत्तविराचित—अनुवाद—'विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः' (गौ. २।१।६४) इस सिद्धान्तानुसार तथा हिन्दी में अनेक योग्य विद्वानों की व्याख्यायें उपलब्ध होने पर भी अध्ययनाध्यापनमें इस तन्त्र की दुरूहता तथा अपनी अल्पज्ञता का अनुभव करता हुआ भी स्वर्गीय गुरुदेव श्री यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य, आयुर्वेदभिषक् केशरी स्व. श्रीगोवर्द्धनजी शर्मा छांगानी महानुभावों के आदेश से ही इस कार्य को सम्पादन किया । स्वर्गीय दोनों महापुरुषों नें इस टीका को सुनाथा । भूमिकारूपमें स्वर्गीय आत्माओं का शुभाशीर्वाद भी प्राप्त होनेवाला था । खेद है—वे दोनों महापुरुषही स्वर्ग पधार गये । फिर भी परमकारुणिक भगवान् धन्वन्तरिकी असीम अनुकम्पा से इस के तीनों विभागों को लिखने में पूज्य श्रीपिताजी की उपस्थिति में कुछ भी असुविधा नहीं हुई । अन्य दो भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होंनेवाले हैं ।

इस संस्करण की विशेषता—इस तन्त्र को राष्ट्रभाषानुवाद के साथ सभी श्लोकों के दुरूह पदों को सर्व सुबोध्य करने के लिये स्थान-स्थान पर 'वक्तव्य' भी उपलब्ध चरक सुश्रुत वृद्धवाग्भट भेडसंहिता काश्यपसंहिता चक्रपाणि गङ्गाधर योगीन्द्र डल्हण इन्द्र अरुणदत्त अभिनवप्रसूतितंत्र प्रभृति के प्रमाणों से स्पष्ट किया है । मेरा विश्वास है कि इस टीका से वैद्यजन प्रसन्न होंगे और मध्यमकोटि के वैद्य भी इस टीका के आधार पर भली प्रकार इस

ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन कर सकेंगे। परीक्षार्थी छात्रों के लिये तो यह टीका अधिक उपादेय है।

उपकार—उपकारकों में उपलब्ध समस्त आयुर्वेद के ग्रन्थ एवं टीकाग्रन्थों का नाम भी स्तुति करने योग्य है।

श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेदभवन के मालिक स्वनामधन्य वैद्यराज पं. श्रीरामनारायणजी महाराज का पुनः पुनः कृतज्ञ हूं. इस के प्रथमाध्याय को क्रमशः अपने 'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित कर मेरा उत्साह बढाया।

कृतज्ञता–ज्ञापन—

राजस्थान की विभूति स्व. शेठजी श्रीपीरामलजी की पुण्यस्मृति में इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। उन के सुपुत्र शेठ श्रीगोपीकृष्णजी माखरिया के प्रति मैं जिन शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापन करूं, वे शब्द ढूंढे नहीं मिलते। शब्दोंके द्वारा कृतज्ञता प्रकाशन एक प्रथा मात्र है। वास्तविक कृतज्ञता - ज्ञापन तो हृदयसे होता है, अतः आप महानुभाव मेरी इस मूकसेवा पर सच्ची हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार करें, यही मेरी विनम्र प्रार्थना है।

भेडसंहिता—आजकल जो भेडसंहिता मिल रही है, उसकी आर्षछाया के अनुरूप रचना होनेपर भी हमारे मतसे वह असली भेडसंहिता नहीं है। तथा श्रीवाग्भटाचार्य के समय में भी वह अप्राप्य थी। इस विच्छिन्न अंशयुक्त संहिता में कुछ ऐसी बातें मिल रहीं हैं जो चरक, सुश्रुत में नहीं हैं। उदाहरणार्थ—

'शिरोऽभिहृदयं वेत्ति' (भेड. अ. २०) द्वारा शिर म हृदय की स्थिति एवं 'शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रियपरं मनः। तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्' इत्यादि से शिर में मन का स्थान, आलोचक पित्त का द्वैविध्य, दोनों भेदों में चक्षुर्वैषयिक तो सर्वथा प्रसिद्ध आलोचक पित्त है ही किन्तु

बुद्धिवैशेषिक भेद नवीन है। तथा पञ्चविध पित्त का विशेष वर्णन इत्यादि। इसीलिये भेड के नाम से उद्धृत श्लोक ज्वरसमुच्चय-तन्त्रसार नामक अन्य संग्रहग्रन्थ तथा टीकाकारों द्वारा स्थान स्थान में दिये गये हैं, उन में १ श्लोक भी इस मुद्रित भेडसंहिता में नहीं मिलते हैं। अपवाद में ज्वरसमुच्चय में केवल दो तीन श्लोक ही मिलते हैं। इसी को काश्यपसंहिता के संस्कृतोपोद्घात के लेखक नेपालराजगुरु महामनीषी स्व० पं० श्रीहेमराजजी शर्माने विशदवर्णन में इन शब्दों से व्यक्त किया है। 'एवं तत्र तत्रोपलभ्यमानानां बहूनां वचनानामत्रानुपलम्भेन सेयं भेडसंहिता बहुष्ववयवेषु विशेषतो विच्छिन्ना संशयं चादधानाऽवगम्यते। वाग्भटेनापि एवमेव विच्छिन्नाङ्गोपलम्भेन वा चरकसुश्रुतयोरिवास्यां विषयनिरूपणस्य नातिविशदतया वा

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्।

(अ. हृदये उ. त. अ. ४०)

अर्थात्—इस प्रकार भिन्न ग्रन्थोंमें भेड के नामसे मिलनेवाले वचनों के यहां न मिलने से यह भेडसंहिता बहुतसे अंशों से विच्छिन्न तथा सन्देहास्पद प्रतीतहोती है। इन्हीं विच्छिन्न अंशों के न मिलने तथा चरक सुश्रुत के समान इसमें विषयनिरूपण की अस्पष्टता के कारण ही वाग्भट ने निम्नश्लोक द्वारा भेड के विषय में कटाक्ष किया है।

इसी तरह साहित्यायुर्वेदाचार्य श्री. पं. गिरिजादयालुजीने चौखम्बा प्रकाशित 'भेडसंहिता' की भूमिका में भी यही विचार सप्रमाण प्रौढ पाण्डित्यपूर्ण विचारोंसे व्यक्त किये हैं।

अन्त में नम्र निवेदन है कि यह संस्करण जैसा भी हुआ है आप के समक्ष है। आशा है इस के लिये अपना सुझाव अवश्य देंगे। वे द्वितीयावृत्ति में सुधार दिये जायगें। मन्दबुद्धि—नवीन प्रयास आदि अनेक

कारणोंसे भूल होना स्वाभाविक है। निर्णयसागर प्रेस के मैनेजर प्रभृति का भी कृतज्ञ हूं। उनकी कृपासे यह प्रकाशन इतना सुन्दर एवं शीघ्र हो सका।

यह ग्रन्थ अत्यन्त बहुमुखी और पाण्डित्यपूर्ण है। मेरे जैसे सामान्य विद्याबुद्धिसम्पन्न व्यक्तिका इस के अनुवाद में प्रवृत्त होना दुःसाहस मात्र था। परन्तु सब के अन्तःकरणों का प्रेरित करने वाले प्रभु तो परम स्वतन्त्र हैं। वे कब किस कर्म को प्रवृत्त करते हैं इस का कोई नियम तो नहीं है। बहुत पहले उन्हींकी प्रेरणा से यह अनुवाद लिखा गया था। इस के कुछ स्थल तो आज मेरे लिए दुरूह ही हैं। परन्तु पूज्योंकी सहायता से उन का भी अनुवाद होही गया है।

'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' के न्याय से यत्र तत्र रह गये दोषों का परिमार्जन शीघ्रता में पूर्णरूप से सम्यक् न हो सकने पर भी यह प्रकाशन अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा। क्यों कि सभी विद्यालयों की उच्चतम कक्षा एवं परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ है।

आयुर्वेद की पत्रपुष्प न्यायसे यत्किञ्चित् सेवा के उद्देश से इस पुस्तक के लिखने के श्रम को सफल करने की कृपा करें। अन्त में श्रद्धेय वैद्यराज श्रीवैद्यनाथजी आयुर्वेदाचार्य आयुर्वेदालंकार एवं मेरे अनुज वैद्यनाथ भेडा आयुर्वेदाचार्य का अधिक आभारी हूं। उन्होंने समय समय पर प्रूफ-संशोधन एवं परामर्श देने में पूर्ण सहयोग दिया है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

विनीत–शंकरलाल भेड़ा

प्रसूतितंत्रे - विषयसूची

गर्भावक्रान्तिरध्यायः

प्रसूतितंत्रस्य अर्थप्रकाशिकाटीकायामुपयोजितानां मुद्रितपुस्तकानां तथा विदुषां नामानि

१ चरकसंहिता
२ सुश्रुतसंहिता
३ अष्टाङ्गसंग्रह
४ उल्हण
५ अरुणदत्त
६ चक्रपाणि
७ गंगाधर
८ हाराणचन्द्र
९ योगीन्द्र
१० इन्दु
११ अष्टाङ्गशारीरम्
१२ काश्यपसंहिता
१३ भावप्रकाश
१४ तर्कसंग्रह
१५ योगवासिष्ठ
१६ सांख्यकारिका
१७ श्री. भ. गीता
१८ गर्भोपनिषद्
१९ मनुस्मृति
२० भेडसंहिता
२१ याज्ञवल्क्यस्मृति
२२ हारीतसंहिता
२३ **अभिनवप्रसूतितन्त्रम्**
२४ मधुकोष
२५ अमरकोष
२६ भानुमती
२७ शार्ङ्गधरसंहिता
२८ पराशर
२९ प्रत्यक्षशारीरम्
३० विश्वामित्र
३१ मिताक्षरा
३२ कुल्लूकभट्ट
३३ आपस्तम्ब
३४ डॉ. भास्कर घाणेकर
३५ भोज
३६ रघुवंश
३७ रसरत्नाकर
३८ आश्वलायनगृह्यसूत्र
३९ अथर्ववेद
४० ऋग्वेद
४१ ऐतरेय
४२ तै० ब्राह्मण
४३ गोभिलगृह्यसूत्र
४४ स्वामी श्रीदयानन्दसरस्वती
४५ अग्निवेश्यगृह्यसूत्र
४६ निरुक्त
४७ वैखानस गृह्यसूत्र
४८ बोधायनीय गृह्यपरिभाषा
४९ महाभारत
५० बाल्मीकिरामायण
५१ स्व. श्रीछांगानीजी
५२ अष्टाङ्गहृदय
५३ शा. दीपिका
५४ मल्लिनाथ
५५ जतुकर्ण
५६ **द्रव्यगुण-स्व. श्रीयादवाचार्य**
५७ शिवदास
५८ हेमचन्द्र
५९ उदयन
६० अत्रिसंहिता
६१ वाचस्पति
६२ न्यायचन्द्रिका
६३ माधवनिदान
६४ मेदिनी
६५ वै. श. सि.
६६ हेमाद्रि
६७ वैजयन्ती
६८ धन्वन्तरिनिघण्टु
६९ श्रीअत्रिदेव
७० अथर्वण
७१ भालुकि
७२ कैयदेवनिघण्टु
७३ श. क.
७४ सिद्धभेषजमणिमाला
७५ लोलिम्बराज
७६ श्रीलक्ष्मीरामस्वामी
७७ अष्टाङ्गहृदयकोष
७८ श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेदभवन प्रकाशित आ. संहिता
७९ श्रीनिर्णयसागर प्रकाशित आ. संहिता.

अष्टाङ्गहृदये-शारीरस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो गर्भावक्रान्तिशारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अर्थः—इसके बाद गर्भावक्रान्ति नामक शारीर की व्याख्या करेंगे, जैसा आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

वक्तव्यः—गर्भावक्रान्ति गर्भाभिनिर्वृत्ति, गर्भाधान ये पर्यायवाची शब्द हैं। गर्भावक्रान्ति शब्द का अर्थ है—गर्भ का अवतरण, प्राप्ति, उत्पत्ति, स्वरूपलाभ आदि। इसी लिए अवक्रान्ति शब्द का उपगमन, अवतरण (ड॰); अवक्रमण, सम्प्राप्ति, इस प्रक्रिया में अगर्भ को गर्भत्व की प्राप्ति होती है (अ॰); गर्भ का अवक्रमण प्राप्ति, स्वरूपलाभ (इन्दु); अवक्रान्ति—मेलक, उत्पत्ति (च॰); अवक्रान्ति—परलोक से आ कर आत्मा सहित गर्भत्वरूप से जीवलोक में आगमन (गंगाधर); अवक्रान्ति—आगति (हा॰); भीतर गर्भाशयगत शुक्र-शोणितात्मक गर्भ शरीर में गर्भरूप से जीव का अवतरण (योगीन्द्र); अवतरण क्रम अर्थात् गर्भ की अभिनिर्वृत्ति प्रकार आदि भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने अर्थ किये हैं। सब का एक ही भाव है। गर्भाधान में शुद्ध शुक्र, आर्तव तथा जीव का कुक्षि के भीतर

१—**गर्भस्यावक्रान्तिः**—उपगमनमवतरणमिति यावत् (डह्लन)।

गर्भस्यावक्रान्तिरवक्रमणं सम्प्राप्तिः। यथाऽगर्भो गर्भतां सम्पद्यत इत्यर्थः। (अरुणदत्तः)।

गर्भस्यावक्रान्तिर्मेलक उत्पत्तिरिति यावत् (चक्रपाणिः)।

ऊर्ध्वात् परलोकादेत्य गर्भत्वेन जीवलोके—अवक्रम्यते आत्मनेति गर्भावक्रान्तिः (गंगाधरः)।

गर्भस्यागतिर्गर्भावक्रान्तिः (हाराणचन्द्रः)।

गर्भे गर्भशरीरे अन्तर्गर्भाशयगतशुक्रशोणितात्मके गर्भरूपेण वा अवक्रान्तिः, जीवस्य अवतरणम् (योगीन्द्रः)।

संयोग होता है, अर्थात् परिपक्व स्त्री-बीज डिम्ब तथा पुंबीज शुक्राणु के संयोग होने पर ही गर्भाधान होता है। इसी को गर्भावक्रान्ति कहते हैं, इस स्थिति का नाम ही गर्भ है। यह ध्यान में रखने की बात है कि आयुर्वेद में पाश्चात्य सिद्धान्तानुसार शुक्रशोणित संगम को ही गर्भ नहीं कहते हैं, किन्तु शुक्र शोणित संगम में "जीव" का संयोग होने पर उस "त्रिसंयोगी" अङ्ग को ही[१] गर्भ कहते हैं।

गर्भाशय में स्थित पुरुष, आठ प्रकृतियाँ और षोडश विकार इनसे युक्त शुक्र शोणित को गर्भ कहते हैं (सु०)। चरक ने गर्भ के लक्षण में यह विशेष कहा है कि शुक्र और आर्तव महाभूतात्मक एवं अचेतन हैं। उनमें चैतन्य लाने के लिये चैतन्य गुणवान् आत्मा या पुरुष का उनके साथ संयोग होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये शुक्र और शोणित तथा आत्मा (जीव) इनके सम्यक् योग की ही गर्भ संज्ञा है[२]। इस तरह गर्भ शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किये हैं। चरक में एक गर्भ का अनेक तरह से वर्णन हुआ है।

इन प्रमाणों से गर्भावक्रान्ति का स्पष्ट अर्थ होता है— शुक्र शोणित संयोग पद्धति (Process of the fertilization of ovum)।

अष्टांग संग्रह में गर्भावक्रान्ति शारीर के प्रारम्भ में इन्दु ने कहा है कि "इस अध्याय में गर्भाधान से ले कर गर्भ के योग तथा क्षेम का ध्यान रखते हुए गर्भ की नौ महीने कि मासानुमासिक वृद्धि के वर्णन के साथ गर्भ के रक्षार्थ चिकित्सा तथा प्रसवकाल तक गर्भशय्या में स्थित रहता हुआ अव्यापन्नावस्था में सुखपूर्वक प्रसव हो" इत्यादि

१—शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृति-विकारसम्मूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते। (सुश्रुतः)।

२—शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति। यथा सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक् संयोगाद् गर्भत्वं न भवति, तच्च संयोगाद् भवति। (चरक.)

का भी वर्णन हुआ है[१]। इस लिये गर्भावक्रान्ति का गर्भ परिवृद्धि अर्थ " Development of the foetus " भी जानना चाहिये।

निष्कर्ष—शुक्र और आर्तव के गर्भाशय में संयोग होने पर जब जीवात्मा का संयोग होता है, तब उसकी गर्भ संज्ञा होती है। उस गर्भ की उत्पत्तिक्रम का नाम गर्भावक्रान्ति है।

शरीरभावमधिकृत्य कृतं स्थानं शारीरम्।

अर्थात् जिस स्थान में शरीर की रचना (जन्म), स्थिति तथा नाश की रीति का एवं समस्त सूक्ष्म अङ्ग–प्रत्यङ्ग विभाग का यथार्थ वर्णन किया गया हो, उसको शारीर कहते हैं।

शरीरसृष्टि–स्थिति–नाशरीति,
समस्त–सूक्ष्माङ्ग–विभागपूर्वम्।
यथार्थतो यत्र तु वर्ण्यते तद्,
वदन्ति शारीरमिहार्यवैद्याः। (अ० शा०)

इसी ग्रन्थ में शारीरस्थान के अन्तिम श्लोक से शारीर शब्द की निरुक्ति इस तरह की है—क्योंकि इस स्थान में शरीर के जन्म तथा मरण की प्रधान रूप से विवेचना की गई है, इसलिये इसे शारीरस्थान कहते हैं। (अ० शा० ९) यहां शरीर शब्द से पृथिव्यादि महाभूतों के विकार का समुदाय रूप तथा चेतना का अधिष्ठान या आद्याश्रयभूत जो समयोगवाही मूर्त स्वरूप है, उसे शरीर कहते हैं। सुश्रुत के मत से आत्म-प्रकृति-विकार-सम्मूर्च्छित षडङ्ग को ही शरीर कहते हैं। संहिताओं के शारीरस्थानों में आत्मशारीर तथा भौतिक-शारीर भेद से दो तरह से शारीरस्थान का वर्णन हुआ है[२]। आयुर्वेदीय आत्म-शारीर

१—पुत्रस्य निषेकात् प्रभृति योगक्षेमौ यथा संभवतः, यथा च मातरि तिष्ठति, यथा च न व्यापद्यते, अव्यापन्नं च यथा सुखं सूते—इति प्रदर्शनार्थमध्यायारम्भः।
(इन्दुः)

२—शरीरं कारणोत्पत्तिस्थितिवृद्ध्यादिविशेषैः प्रतिपादयितुं शारीरं स्थानमुच्यते।
(चक्रपाणिः)

शरीरं पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकं चेतनाधिष्ठानभूतम्। (गंगाधरः)

में दैवी सम्पत्ति, आत्मा परमात्मा, नानाविध योनियों में जन्म - धारण करने का कारण, जन्म लेते समय उसके साथ आनेवाली सत्वादि सामग्री, जन्म लेने के बाद उनमें मिलनेवाले लक्षण आदि का वर्णन हुआ है। इस वर्णन के बाद भौतिक - शारीर में प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये "शव विच्छेद" (Post-mortem) आदि ज्ञान का वर्णन विशद रूप से हुआ है। जिससे मनुष्य–शरीर के अङ्ग - प्रत्यङ्ग का प्रत्यक्ष ज्ञान करते हैं। इन दोनों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन होने से चरक ने शारीर स्थान का निर्वचन इन शब्दों में किया है—

शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैव - मानुष - सम्पदा।
सर्वभावैर्यतस्तस्माच्छारीरं स्थानमुच्यते।

"शीर्यते प्रतिक्षणमुपचीयते—इति शरीरम्"—अर्थात् उपचय की उपाय-सम्पत्ति के विद्यमान होने पर भी निरन्तर अपचीयमान होने-वाले को शरीर कहते हैं, क्योंकि [1]शरीर को देह भी कहते हैं। "भूत-मयो देहः" (अ० हृ० शा० ३)। देह शब्द "दिह् उपचये" इस धातु से बनता है। "देग्धि उपचीयते प्रतिक्षणमाहाररसादिना–इति देहः"—प्रतिक्षण आहार के सार भागों से जिसकी वृद्धि होती है, उसे देह कहते हैं। शरीर भी देह संज्ञावाला है, इसलिये यह फलितार्थ होता है कि उपचीयमानत्व समकालीन अपचीयमानत्व को शरीर कहते हैं। "उपचीयमानत्वसमकालीनापचयमानत्वं शरीरत्वम्।" इति।

निष्कर्ष—शरीर के देह और शरीर नाम इसलिये सार्थक हैं कि उपचय को ले कर देह और अपचय को लेकर शरीर नाम रखा गया है।

१—शरीरं चेतनाधिष्ठानभूतं पंचमहाभूतविकारजातम्–अर्थेन्द्रियादिसमुदायात्मक-मिति तात्पर्यम्। (हाराणचन्द्रः)।

शुद्धे शुक्रार्तवे सत्वः स्वकर्मक्लेशचोदितः।
गर्भः सम्पद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ ॥ १ ॥

अर्थ—शुक्र और आर्तव के शुद्ध होने पर अपने कर्मों के क्लेश से प्रेरित हुआ सत्व युक्ति के अधीन हो कर गर्भ रूप में हो जाता है, जिस तरह अरणी से युक्ति–बल द्वारा अग्नि उत्पन्न हो जाती है। अर्थात्—पुरुष की उत्पत्ति माता-पिता के शुद्ध रज तथा शुक्र का संभोग समय में जब संयोग होता है, उस समय उस गर्भ-बीज में अपने-अपने पूर्व जन्म में किये हुए शुभ तथा अशुभ कर्म की प्रेरणा से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, क्लेश भोग के लिये सत्व संयोग से जीव गर्भ को धारण करता है, अर्थात् पुंबीज (Spermatozoon or male gamate) के साथ मिला हुआ स्त्री बीज (Ovum of female gamate) की गर्भाशय कला में संस्थिति को ही गर्भ कहते हैं।"

जिस तरह अरणी में मथ्य, मन्थान तथा मन्थक आदि सम्पूर्ण सामग्री द्वारा युक्तिपूर्वक कार्य न होने पर, उसमें अग्नि का प्रकट होना कठिन है, उसी तरह "स्व-स्व कर्मों के क्लेशों से प्रेरित सत्व" का प्रकटीरूप जीव में तभी होता है, जब युक्तिपूर्वक संभोग से रज तथा शुक्र का संयोग हो कर गर्भ की स्थिति होती है। आत्मा को अवतीर्ण होने के लिये शुक्र और आर्तव का शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। शुक्र-शोणित शुद्धि, गुण-सम्पन्नता, दोषराहित्य, चरकोक्त स्त्री-पुरुष संगम-पद्धति उत्तम सन्तति उत्पन्न करते हैं। इसीलिये कविवर कालिदास ने कुमारसंभव में "प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः" कहा है।

वक्तव्य—सत्व जीव। कर्म-पूर्वजन्मार्जित शुभ तथा अशुभ। क्लेश-अविद्या, अस्मित, राग, द्वेष, अभिनिवेश भेद से पाँच प्रकार के होते हैं। इनसे प्रेरित जीव गर्भरूप में परिवर्तित होता है। क्योंकि

कर्म-क्लेशरहित वीतराग आत्माओं का जन्म नहीं होता है[1]। अविद्या अयथार्थ वस्तु में यथार्थ ज्ञान होना[2]। अस्मिता–संसार से अलग आत्मा नहीं है ऐसा विश्वास[3]। राग-सांसारिक सुख की इच्छा[4]। द्वेष दुःख का अनुशायी।

अभिनिवेश—विज्ञात अर्थ में कारण और उपपत्ति को ध्यान में रख कर अविज्ञात अर्थ में उसी तरह कारण और उपपत्ति को जान लेना तथा उचित रीति से उपयोग में ले लेना युक्ति है। यहाँ दृष्टान्त विज्ञात अर्थ में है। इस विज्ञान अर्थ-में जो कारण और उपपत्ति दृश्यमान है, उस कारण और उपपत्ति का अन्य जगह अविद्यमान अर्थ भी प्रयोग करना, जैसे कि जल-कर्षणादि कारणों से समुचित तथा उस काल के संयोगवश शस्य की उत्पत्ति होती है, तदनुसार पाञ्चभौतिक और आत्मा का शुक्रार्तव के ऋतुकाल में शुद्ध गर्भाशय में संयोग होने से गर्भ की उत्पत्ति होती है, यह युक्ति है[6]। मथ्य-मन्थक-मन्थान दृष्टान्त है। प्रमाणों के वर्णन में युक्ति का अन्तर्भाव अनुमान के भीतर हो जाता है। (उपस्कार)

विशेष वक्तव्य—इस श्लोक की दृष्टि से शुक्र तथा आर्तव महाभूतात्मक एवं अचेतन हैं। इनमें चैतन्य लाने के लिये चैतन्य-गुण-युक्त आत्मा-जीव या पुरुष का संयोग होना अत्यन्त आवश्यक है।

१—चित्तमेव संसारिरागादिक्लेददूषितम्। तदैव तैर्विनिर्मुक्तं मुक्तमित्यभिधीयते। (अरुणदत्तः)

२—अयथावस्तुनि तथेति ख्यातिरविद्या।

३—शरीराद् व्यतिरिक्त आत्मा नास्तीत्येवं प्रत्यय अस्मिता।

४—सांसारिकसुखस्यानुशायी रागः। ५—दुःखानुशायी द्वेषः।

६—जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् शस्यसम्भवः। युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां सम्भवस्तथा। मथ्य-मन्थाक-मन्थानसंयोगादग्निसम्भवः।

विज्ञाते—अर्थे कारणोपपत्तिदर्शनात्-अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः। उक्तं च—बुद्धिः पश्यति या भावान्, बहुकारणयोगजान्। युक्तिः। (उपस्कार च० सू० ११)
अनुमानं तर्को युक्त्यपेक्षः। (च० वि० ४)

इसलिये गर्भोत्पत्ति के लिये जीव या आत्मा की आवश्यकता होने पर भी आत्मा के निर्विकार होने से उनके जन्म लेने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु आत्मा बुद्धि आदि विकार इन्द्रिय सहित मन, पञ्चतन्मात्राएँ, इनके साथ भ्रमण करती हैं। इस समूह को ही '**लिङ्ग शरीर**' या संक्षेप में '**जीव**' कहते हैं। आर्तव और शुक्र के संयोग में मिलनेवाली यही प्रधान तीसरी वस्तु है, जिसके बिना गर्भोत्पत्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः यह गर्भ का बीज है। यह अणु स्वरूप अतिसूक्ष्म, इन चक्षुओं से अदृश्य, किन्तु दिव्य-दृष्टि से दृश्यमान शुक्र में रहनेवाला है जो शुक्र के साथ वायु द्वारा प्रेरित होकर बाहर आता है तथा शुक्र में इस जीव के रहने से ही गर्भोत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं होती। इसलिये शुक्र में रहनेवाले गर्भोत्पत्तिकारक इस पदार्थ को ही जीव कहते हैं। एलोपैथी में शुक्राणु (स्पर्मेटोजोआ) इसी को कहते हैं। क्योंकि यह शुक्र में रहनेवाला वायु के द्वारा शुक्र के साथ निकलनेवाला, जिसके होने से शुक्र में प्रजनन-शक्ति स्थायी बनी रहती है जो शुक्र की तरह परम सूक्ष्म-अदृश्य तथा अणु स्वरूप है। आयुर्वेद में गर्भोत्पत्ति तथा गर्भ के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यधिक अध्यात्मज्ञान, शरीरक्रियाविज्ञान तथा मनोविज्ञान को ध्यान में रख कर विचार किया गया है। यह वर्णन बहुत ही सुन्दर अवश्य उपादेय होने से वर्णित किया जाता है।

(१) विकृतिरहित शुक्रयुक्त पुरुष का, जिसकी योनि, रज और गर्भाशय शुद्ध हो, ऐसी स्त्री के साथ ऋतुकाल में जब संयोग होता है, उस समय गर्भाशय में शुक्र और आर्तव के संयोग में मन के सम्पर्क से, उसी की क्रिया से क्रियावान् हुआ जीव आता है, तब गर्भ उत्पन्न होता है[१]।

१—पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाया यदा भवति संसर्ग-ऋतुकाले, यदा चानयोस्तथैव युक्ते च संसर्गे शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति, सत्त्वसम्प्रयोगात्तदा गर्भोऽभिनिवर्त्तते। (च० शा० ३)

पुराने रज के चले जाने पर नवीन रज के स्थित हो जाने से गर्भाशय और योनि-मार्ग के शुद्ध हो जाने पर बीजरूप से (शुक्राणु रूप से) शुक्र द्रव से नहीं तथा विकाररहित वायु द्वारा और महाभूतों से प्रेरित हो कर इसके साथ अनुकूल गुणवाले आर्तव के साथ मिल कर, उसी क्षण में रागादि क्लेशों से वशीभूत हुए तथा अपने पूर्व जन्मार्जित कर्मों से प्रेरित हो कर मन के वेग के कारण जीव से मिश्रित हुआ गर्भाशय में आता है।

गर्भोत्पत्ति में शुक्रबीज तथा स्त्रीबीज के अतिरिक्त वायु पंचमहाभूत तथा मनयुक्त आत्मा भी कारण हैं। गर्भाशय में शुक्र को पहुँचाने में जैसे वायु कारण है, उसी तरह आत्मा को इस संयोग में लाने का कारण मन है। मन के द्वारा ही आत्मा इस संयोग तक आता है। अविद्या, अस्मिता, आदि क्लेश तथा पूर्व जन्मार्जित शुभाशुभ कर्म के कारण इस संयोग में आत्मा को आना पड़ता है।

काश्यप संहिता में गर्भ में जीव किस तरह प्रवेश करता है, इसका वर्णन इस तरह हुआ है—

'हे वत्स ! जीव सर्वगत होने से ईश्वर के गुणों से युक्त हुआ युगपत् ही पूर्व शरीर से छूट कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। इसका यह भाव है कि—जीव एक शरीर का त्याग करता है तथा तत्क्षण ही दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। ये दोनों कार्य एक साथ ही होते हैं। शुक्र (बीज), आर्तव, वायु, आकाश आदि पंचमहाभूत मन तथा बुद्धि इन सब का गर्भ में संयोग होना आवश्यक है। यह जीव सर्वगत होने पर भी पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के फलों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियों को प्राप्त करता है[१]।

१—जीवस्तु खलु भो ! सर्वगतत्वादीश्वरगुणसमन्वितः पूर्वशरीराच्चावक्रामति, युगपत, न कदाचिदपि बीजशोणितवाय्वाकाशादिमनोबुद्धिभिर्वियुक्तपूर्वः, सर्वगतत्वाच्च न कस्मिंश्चिद् योनौ नोपपद्यते स्वकर्मफलानुभवादिति।

(का० सं० शा० १)

चेतनायुक्त उस गर्भ में वायु विभाजन करता है, तेज पाचन करता है, जल क्लिन्नता उत्पन्न करता है, पृथ्वी कठिनता उत्पन्न करती है तथा आकाश आकार की वृद्धि करता है। इस तरह परिवर्द्धित हुआ वह गर्भ जब हाथ, पाद, जिह्वा, कर्ण, नितम्ब आदि अङ्गों से युक्त हो जाता है, तब उसकी शरीर संज्ञा हो जाती है[1]।"

ऋतुकाल में काम के वेग के वशीभूत होने से जब स्त्री और पुरुष का संयोग होता है, तब मेढ़ और योनि के संघर्षण से शरीर की ऊष्मा वायु से आहत हो कर पुरुष के समस्त शरीर में स्थित वीर्य को बहने लायक पतला कर देती है। तदनन्तर वायु उसी द्रवीभूत वीर्य को जननेन्द्रिय के मार्ग से स्त्री की योनि में गिराता है। उसके बाद वही वीर्य बह कर मुख खुले हुए गर्भाशय में जाता है और उस गर्भाशय में वीर्य की तरह आये हुए रज के साथ हो जाता है। जिस समय शुक्र और आर्तव का संयोग होता है, उसी समय जीव उस मिले हुए वीर्य और रज के भीतर प्रवेश करता है[2]।

गर्भाशयगत शुक्र, रज, जीव और १८ विकारों से युक्त प्रकृति—इन सबको गर्भ कहते हैं।

१—तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्द्धयति, एवं विवर्द्धितः स यदा हस्त-पाद-जिह्वा-घ्राण-कर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा शरीरमिति संज्ञां लभते। (सु० शा० अ० ५)

२—ऋतौ स्त्रीपुंसयोर्योगे मकरध्वजवेगतः।
मेढ्र-योन्यभिसंघर्षाच्छरीरोष्माऽनिलाहतः।१।
पुंसः सर्वशरीरस्थं रेतो द्रावयतेऽथ तत्।
वायुर्मेहनमार्गेण पातयत्यङ्गनाभगे।२।
तत् संसृत्य व्यात्तमुखं याति गर्भाशयं प्रति।
तत्र शुक्रवदायातेनार्तवेन युतं भवेत्।३।
शुक्रार्तवसमाश्लेषो यदैव खलु जायते।
जीवस्तदैव विशति युक्तः शुक्रार्तवान्तरः।४।
गर्भाशयगतं शुक्रमार्तवं जीवसंज्ञकः।
प्रकृतिः सविकारा च तत् सर्वं गर्भसंज्ञकम्।५।

(भावप्रकाश)

बीजात्मकैर्महाभूतैः सूक्ष्मैः सत्वानुगैश्च सः ।
मातुश्चाहाररसजैः क्रमात् कुक्षौ विवर्द्धते ॥ २ ॥

अर्थात् वह गर्भ शुक्र और आर्तव में परिणत गर्भ को उत्पन्न करनेवाले बीज रूप सत्व और रज तथा तमोगुणमय सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों के योग से तथा माता के आहार जनित रसों से क्रमशः कुक्षि (गर्भाशय) में बढ जाता है।

वक्तव्य—इस श्लोक में गर्भ के उपादान की अत्यन्त सूक्ष्म दार्शनिक विवेचना की गयी है । जिस तरह पुरुष का शुक्र पाञ्चभौतिक होता है, उसी तरह स्त्री का बीज भी पञ्चमहाभूतों के संगठन से बना हुआ है । आत्मा (जीव) लिङ्ग शरीर उपलक्षित होकर, सत्व के साथ मिलकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्राओं के साथ शुक्र तथा आर्तव में संयोग को प्राप्त करता है तथा गर्भ की वृद्धि भी माता के आहारजन्य रस से ही होती है, यह भी स्वयं पञ्चभूत का ही संगठन है । गर्भ की कैसे उत्पत्ति होती है, किन-किन विकार समुदाय से गर्भ का निर्माण होता है, इसका विशद् वर्णन आयुर्वेद महर्षियों ने करते समय गर्भोपादान के विषय में निम्न चार मतों से विचार किया है :—

१—पञ्चमहाभूत और शरीर (पुरुष) के संयोग को गर्भ कहते हैं[१] ।

२—आत्मा और प्रकृति के विकार की सम्मूर्च्छना (मिलित अवस्था) को गर्भ कहते हैं ।

३—चेतना संयुक्त त्रिधातु को गर्भ कहते हैं ।

४—मात्रादि षड्भावों के समुदाय को गर्भ कहते हैं ।

१—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः । (सु० सू० १ अ०)

इस तरह शरीर में महाभूतों का संसर्ग शुक्रज, आर्तवज, आत्मज तथा रसज भेद से चार तरह का होता है। इस पञ्चमहाभूत शरीरी समवाय गर्भ में शुक्र भी पञ्चभूतात्मक है, आर्तव भी वही है, जीव (आत्मा—लिङ्ग शरीर) सत्व से प्रेरित होकर अत्यन्त सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों के साथ शुक्रशोणित संसर्ग-काल में गर्भाशय में प्रवेश करता है। पाञ्चभौतिक मातृ-आहारजन्य रस से परिवृद्धि भी होती है, किन्तु इन में विशेषता यह है कि आकाश स्वयं निष्क्रिय तथा विभु (सर्वव्यापी) है, सर्वत्र होने के कारण यह एक ही प्रकार का है[1]। इसलिये देहान्तर गमन में इसकी गणना नहीं होती है[2]। अवशिष्ट चार महाभूत विकार युक्त सक्रिय (क्रियाशील) हैं, तथा देहान्तर में गमन करते हैं, महाभूतों के अतिरिक्त छठवीं धातु मन सहित आत्मा है। यह षड् धातुएँ गर्भ के उपादान हैं। यह मत आयुर्वेद महर्षियों ने वैशेषिक दर्शन से ग्रहण किया है। गर्भ की षड्धात्वात्मकता इस तरह है—(१) आकाशजभाव (२) वायवीय भाव (३) आग्नेय भाव (४) जलीय भाव (५) पार्थिव भाव (६) समनस्क आत्मा (जीव-चेतना) प्राप्त-भाव। इनमें पञ्चमहाभूत आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी हैं, ये महागुणवान् हैं। इनके ऊपर चेतना धातु का अधिष्ठान होता है।

चेतना संयुक्त त्रिधातु को गर्भ कहते हैं:—

आयुर्वेदशास्त्र में चेतना से संयुक्त वात, पित्त और कफ यह तीन धातु गर्भ के उपादान के घटक हैं, क्योंकि यह तीन धातु गर्भ के

१—शब्दगुणकमाकाशं विभु चैकं नित्यञ्च। (तर्कसंग्रहः)

२—आकाशं तु यद्यपि शुक्रे पाञ्चभौतिकेऽस्ति, तथापि न पुरुषशरीरान्निर्गत्य गर्भाशयं गच्छति, किन्तु भूतचतुष्टयमेव क्रियावद् याति, आकाशन्तु व्यापकमेव तत्रागतेन शुक्रेण सन्नद्धं भवति। तेनाकाशस्य गमनाभावादिह गर्भाशयगमनाभिधानप्रस्तावे शुक्रगतत्वेनाभिधानम्। अन्यत्रापि च भूतानां गमनप्रस्तावे आकाशं परित्युक्तमेव। यथा "भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्" इति (च. शा. २. अश्लो. ४ की टीका में चक्रपाणि)

आधारभूत शुक्र और शोणित क बीजरूप से रहते हैं। इसी आधार पर 'चेतनाधिष्ठित त्रिधातु को गर्भ कहते हैं" यह सुश्रुत में इस तरह वर्णित हुआ है। वात, पित्त, कफ ये तीनों ही शरीर की उत्पत्ति में हेतु हैं। इन्हीं के अधिकृत होने पर शरीर में ही नीचे, मध्य तथा ऊपर यथाक्रम अवस्थित रहनेवाले वात-पित्त-कफ से ही शरीर का धारण होता है। इसकी उपमा तीन स्तम्भवाले मकान के साथ दी गई है। इसीलिये इसको त्रिस्थूण भी कहते हैं[1]।

मात्रादि षड्भावों के संयोग को गर्भ कहते हैं:—

गर्भ की उत्पत्ति मात्रादि षड्भावों के समुदाय से भी होती है। माता, पिता, आत्मा, सात्म्य, रस तथा सत्व ये छः भाव हैं। सर्व भावों के समुदाय से गर्भ की उत्पत्ति होती है, इसलिये गर्भ पितृज, मातृज, सात्म्यज, रसज है तथा सत्व से भी गर्भ की अभिनिवृत्ति होती है[2]। जिस तरह कूटागार (गर्भगृह) अनेक द्रव्यों के संयोग से तथा रथ नाना तरह के अङ्गों के समुदाय से बन जाता है, तदनुसार ही गर्भ भी नानाविध मात्रादि षड्भावों के समुदाय से उत्पन्न होता है[3]। अधिष्ठित इन पञ्चमहाभूतों से गर्भ की उत्पत्ति तथा गर्भ के अङ्गों का विभजन (विकास) होता है[4]।

१—वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते, आगारमिव त्रिस्थूणाभिस्तिसृभिः। अतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। (सु. सू. २१)

२—सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिवर्तते, मातृजश्चायं सात्म्यजश्च रसजश्च। अस्ति च खलु सत्वमौपपादुकमिति।

३—एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः। यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायाद्यथा वा रथो नानारथाङ्गसमुदायात्। तस्मादेतदवोचामः-मातृजश्चायं गर्भ इत्यादि। (च. शा. ३-२०)

४—गर्भस्तु खलु अन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः। एवमनया युक्त्या पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधात्वधिष्ठानभूतः, स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः। (च. शा. ४)

आत्मा और प्रकृति की सम्मूर्च्छनावस्था गर्भ—

इस गर्भ की उत्पत्ति--प्रकृति से उत्पन्न हुए चौबीस विकारतत्त्वों के भाग लेने से होती है। इसमें पचीसवां तत्त्व पुरुष नामक है जो सूक्ष्म शरीर से उपलक्षित तथा शुक्र और आर्तव के साथ ही गर्भ में प्रवेश करता है। यह सांख्य शास्त्र का मत है। यह सूक्ष्म शरीर अट्ठारह तत्त्वों (धातुओं) का होता है। यथा :—

१-मन २-चक्षु ३-श्रोत्र ४-घ्राण ५-जिह्वा ६-त्वचा ७-वाणी ८-हस्त ९-पाद १०-गुदा ११-उपस्थ १२-रूप १३-गन्ध १४-शब्द १५-रस १६-स्पर्श १७-अव्यक्त १८-महत्व १९-अहङ्कार २०-रूप तन्मात्र २१-शब्द तन्मात्र २२-गन्ध तन्मात्र २३-रस तन्मात्र यह चौबीस धातु हैं[1]।

यह मात्रादि षड्भावों का प्रकरण मातृजादि प्रत्येक की विस्तृत आवश्यकता का ऊहापोह चरक शारीर तृतीयाध्याय में वर्णित हुआ है। इनका अत्यन्त सार भाग इस तरह है।

(१) माता-पिता अवश्यम्भावी हेतु होने से गर्भोत्पत्ति में कारण बतलाये हैं, क्योंकि विशेषतः जरायुज सृष्टि में शुक्रशोणित के बिना गर्भोत्पत्ति नहीं हो सकती।

(२) इसी तरह आत्मा भी गर्भाशय में प्रवेश करके शुक्र और शोणित के संयोग से गर्भ के रूप में उत्पन्न होने से गर्भ की उत्पत्ति में आत्मा भी कारण हो जाता है। यद्यपि आत्मा निर्विकार तथा स्वयं अनादि होने से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, तथापि आत्मा का दूसरी अवस्था में प्रवेश करना ही जन्म कहलाता है। इसलिए सिद्धान्ततः आत्मा के अनादित्व में कोई दोष नहीं आता है।

१--पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः। मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी। (च. शा. १-१७)

(३) इसी तरह् सात्म्य भी गर्भोत्पत्ति में स्पष्टतया है, क्योंकि असात्म्य सेवन से ही स्त्री-पुरुषों में वंध्यत्व दोष आते हैं, गर्भ की विकृति की उत्पत्ति भी असात्म्य सेवन से ही मानी गई है। इसलिए गर्भोत्पत्ति में सात्म्य को कारण मानना आचार्यों की अनोखी सूझ है।

(४) रस के बिना तो माता की प्राण यात्रा ही नहीं हो सकती गर्भ जन्म की तो बात ही दूर है। इसलिए माता के शरीर धारण के साथ-साथ रस का सम्यक् उपयोग गर्भोत्पत्ति में परम कारण है।

(५) सत्व तो गर्भोत्पत्ति के उत्पादकों में महत्व का कारण है, क्योंकि मन ही निश्चय से शरीरान्तर के साथ सम्बन्ध करता है, अपितु मन ही जीव के अन्य शरीर ग्रहण करने के साधकतम कारण है। यह जीवात्मा के साथ स्थायी रहता हुआ शरीरान्तर में प्रवेश करता है एवं स्थूल शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध करता है। जीव स्वयं निष्क्रिय है, सत्व की क्रिया से ही क्रियावान् होकर उसका देहान्तर से सम्बन्ध होता है, तभी गर्भोत्पत्ति होती है। यह विषय "सत्वः सम्पद्यते" इस श्लोक से स्पष्ट होता है। इन षड्भावों से उत्पन्न होनेवाले गर्भावयवों का विशेष परिचय चरक-सुश्रुत से जानना चाहिये। कुछ संक्षिप्त वर्णन इस ग्रन्थ के तृतीयाध्याय में आया है।

समन्वय—गर्भोत्पत्ति के सम्बन्ध में ऊपर चार प्रकारके मत निर्दिष्ट हुए हैं—(१) पञ्चमहाभूत शरीरिसमवाय पुरुष (२) आत्म-प्रकृति विकार सम्मूर्च्छित (३) त्रिधातुचेतनायुक्त (४) मात्रादि षड्भाव समुदायात्मक।

यद्यपि स्थूल दृष्टि से इनमें भेद प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर कुछ भी भेद प्रतीत नहीं होता तथा सिद्धान्त भी सब का एक ही ज्ञात होता है एवं सभी मतों का समन्वय मालूम होता है। इनके विरोध का परिहार आचार्य चरक ने स्वयमेव किया है इनके मूलपक्ष "पञ्चमहाभूत शरीरि-समवाय" है। आत्मप्रकृति

आदि विभिन्न मतों का इसमें समावेश हो जाता है। क्योंकि ये सभी सिद्धान्त पञ्चमहाभूत विकार से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। आत्मप्रकृति-विकार सम्मूर्च्छित चतुर्विंशति तत्त्वात्मक को गर्भ माननेवाले पक्ष में भी पाञ्चभौतिक सिद्धान्त से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, क्योंकि आत्मा के भीतर बुद्धि, अहङ्कार एवं मन का ग्रहण हो जाता है, तथा पाञ्चभौतिक शरीर में सम्पूर्ण विकारों या भूतेन्द्रियार्थों का ग्रहण हो जाता है। इसी तरह त्रिधातु गर्भ मानने में कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि वायु—आकाश एवं वायु का प्रतिनिधि है। तेज अग्नि का तथा कफ जल तथा पृथ्वी का प्रतिनिधि है, इसलिए वातादि दोषों का भी पाञ्चभौतिक में समावेश हो जाने से पाञ्चभौतिक कहने में कोई दोष नहीं हैं[१]।

इसी तरह मातृजादि भावों के व्यपदेश में भी पञ्चमहाभूत विका-रित्व में विरोध नहीं आता है—

"अब इस गर्भ के मातृजादि अवयवों का अच्छी तरह विभाग करके कुछ एक अङ्ग का अवयव तथा पूर्व "खुड्डिका गर्भावक्रान्ति" अध्याय में कह दिए हैं। अब आकाशादि पञ्चमहाभूतों के विकार के विभाग के अनुसार उन्हीं कुछ अङ्गावयवों का नामान्तर से और भी अङ्गावयवों को कहेंगे। मातृज आदि भाव भी महाभूतों के विकार ही हैं, अर्थात् महाभूतों से ही बने हुए हैं।" (चरक)[२]

निष्कर्ष—बीज गर्भ में शुक्रार्तव रूप से महाभूतों की उपस्थिति रहती है। सत्वबहुल आकाश रजोबहुल वायु, सत्वरजबहुल अग्नि, सत्वतमबहुल

१—वायुरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति। (सु. सू. ४२)

२—तत्रास्य केचिदङ्गावयवा मातृजादीनवयवान् विभज्य पूर्वमुक्ता यथावत्, महाभूतविकारप्रविभागेन त्विदानीमस्य तांश्चैवाङ्गानवयवान् कांश्चित् पर्यायान्तरेणाक्षराश्चानु व्याख्यास्यामः। मातृजादयोऽप्यस्य महाभूतविकारा एव तत्रास्याकाशात्मकम्... इत्यादि। (च. शा. ४-१२)

जल, तथा मनबहुल पृथ्वी रहती है।[1] आत्मा-मन तथा तन्मात्रा चतुष्टय की उपस्थिति से चेतना प्राप्त करके मातृजन्य आहार रस से गर्भाशय में गर्भ की परिवृद्धि होती रहती है।

सूक्ष्म—अतीन्द्रिय[2]—

तेजो यथार्करश्मीनां स्फटिकेन तिरस्कृतम्।
नेन्धनं दृश्यते गच्छन् सत्वो गर्भाशयं तथा॥ ३॥

जिस तरह सूर्य की किरणों का तेज स्फटिक मणि के बीच में आ जाने पर इन्धन में जाता हुआ आंखों से दिखाई नहीं देता है, उसी तरह गर्भाशय में जाता हुआ गर्भ भी दिखाई नहीं देता है, किन्तु कपास या तृण को जलता देखकर उसमें किरणों का आना प्रतीत होता है, उसी तरह जीव का भी गर्भाशय में आना कार्य द्वारा (अनुमान से) जाना जाता है।

वक्तव्य—जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, इसी लिये गर्भाशय में प्रवेश करते समय इसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है, किन्तु दिव्य दृष्टि से इसका भी दर्शन हो सकता है।[3] आयुर्वेद की दृष्टि से जीव अति सूक्ष्म, अणुस्वरूप, चर्म चक्षु से अदृश्य, किन्तु दिव्य दृष्टि दृश्य वीर्य में मिलने-वाला वीर्य के साथ वायु से बाहर आनेवाला, वीर्य में जिसके रहने से गर्भोत्पत्ति होती है, न रहने से गर्भोत्पत्ति नहीं हो सकती। वास्तव में यह जीव मनुष्य वीर्य का संक्षेपतः बीज है[4]।

१—तत्र सत्वबहुलमाकाशम्, रजोबहुलो वायुः, सत्वरजोबहुलोऽग्निः सत्वतमो-बहुला आपः, तमोबहुला पृथ्वी चेति। (सु. शा. अ. १-२०)

२—अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तपूर्वः। (च. शा. २-३७)

३—कर्मात्मकत्वान्नतु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्। (च. शा. २-३१)

४—संक्षिप्तकरणस्त्वेवं बीजतां यात्यसौ (जीवः) नरः। तद्बीजं योनिगलितं गर्भो भवति मातरि। (योगवासिष्ठ ३।५५)

इसी आधार पर शुक्र में रहनेवाले गर्भोत्पादक बीज को जीव भी कहते हैं, क्योंकि शुक्र और शोणित के संयोग में मिलनेवाली यह तृतीय वस्तु है। इसके बिना गर्भोत्पत्ति नहीं हो सकती[१]। जीव पुरुष के वीर्य में ही अधिष्ठित होकर उसी के साथ गर्भाशय में प्रवेश करता है।

चरकसंहिता में पुरुष के वीर्य का वर्णन भी इसी तरह हुआ है—"यह आत्मा से अधिष्ठित बीजधातु हर्षयुक्त आत्मा से प्रेरित हुआ पुरुष के शरीर से बाहर आकर उचित मार्ग (योनिच्छिद्र) द्वारा गर्भाशय में प्रविष्ट होकर आर्तव के साथ संयुक्त होता है[२]। इससे स्पष्ट होता है कि जीव वीर्य में अधिष्ठित होकर ही एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है।

निष्कर्ष—जिस तरह स्फटिक मणि को सूर्य के सामने रखा जाय तथा सूर्य की किरणों को केन्द्रीभूत करने से स्फटिक मणि के नीचे जो तृणादि हो उन पर सूर्य की किरणें पहुँच कर अग्नि उत्पन्न कर देती है, सूर्य की किरण किस तरह स्फटिक मणि को पार कर तृणादि तक जाती है यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता है, किन्तु कार्य द्वारा अनुमित होता है। उसी तरह गर्भाशय में जाते समय यह सत्व (जीव) भी दिखाई नहीं देता है[३]। भावप्रकाश में भी गर्भ में जीव के प्रवेश करने का वर्णन इस तरह है[४]।

१—यद्यपि शुक्ररजसी कारणे, तथापि यदैवातिवाहिकं सूक्ष्मभूतरूपशरीरं प्राप्नुतः, तदैव ते शरीरं जनयतः, नान्यदा। यदि शुक्रशोणितमातिवाहिकशरीर-निरपेक्षं गर्भं जनयेत्, तदाऽसत्यपि जीवाधिष्ठाने जनयेत्, नतु जनयति, तस्मादात्मस्थ-सूक्ष्मभूतादेव बीजरूपाच्छुक्रशोणितयुक्ताद् गर्भजन्मेति।

(चक्रपाणिदत्त-चरक शा. २ अ. ३६ श्लो. व्या०)

२—स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभि-निष्पत्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्तवेन संसर्गमेति। (च. शा. अ. ४)

३—कार्येणोपलभ्यन्त एवेति—अरुणदत्तः।

४—सूर्यांशोः सूर्यमणित
उभयस्मादपतद् यथा।
वह्निः सञ्जायते, जीव-
स्तथा शुक्रार्तवाद् युतात्। (भावप्रकाशे)

कारणानुविधायित्वात् कार्याणां तत्स्वभावता।
नानायोन्याकृतीः सत्वो धत्तेऽतो द्रुतिलोहवत् ॥

इस श्लोक से भिन्नाकृतियों में जीव का जाना तथा तदाकार ग्रहण करना इस विषय का प्रतिपादन करते हैं—कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता है, कार्य कारण के अनुविधायी होते हैं। कारण के स्वभाव के अनुसार ही कार्य होते हैं, यह कार्य का स्वभाव है कि कारण के अनुरूप (सदृश) ही हो "कारणानुरूपं कार्यम्"। कारण का परामर्श कार्य में अवश्यम्भावी है। इसी कार्य कारण सादृश्य हेतु से सत्व महाभूतानुग एकरूप होते हुए भी अनेक रूप नाना योनि की आकृति प्रतिबिम्ब विशेष से धारण करता है, जिस तरह लौह एकरूप है, किन्तु कर्म द्वारा अग्नि में पिघलाये जाने पर जिस प्रकार के सांचे में डालेंगे, तदाकार ही धारण कर लेता है, तदनुसार आत्मानुग सत्व कर्म से प्रेरित शुविनरूपी सांचे में पड कर नानाविध योनियों में उसी तरह का शरीर प्राप्त करता है।

वक्तव्य—

यह लिङ्गभेद में कारण बतलाते हैं, इसलिए शुक्र बीज से पुरुष तथा स्त्री बीज से कन्यारूप में सन्तति उत्पत्ति उत्पन्न होती है। क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि—अपने-अपने कारण के अनुसार कार्य होते हैं, इसलिए तिलों से तिल ही उत्पन्न होते हैं, उडद नहीं होते।[१] शुक्र और आर्तव के संयोग के समय में शुक्र और आर्तव की स्थिति के अनुसार ही गर्भ का लिङ्गनिर्णय होता है। इसको चरक ने भी स्पष्ट किया है। इसी का उल्लेख अन्यत्र भी भिन्न रूप में आया है।

१—कार्यं हि कारणस्य स्वरूपमनुगच्छति। तथा च तिलेभ्यस्तिला एव जायन्ते न माषाः। (इतीन्द्रः)

सांख्यशास्त्र में इसी को सत्कार्यवाद कहते हैं,[1] वहाँ प्रकृति तथा तत्वों के वर्णन में जैसे प्रकृति त्रिगुणात्मक होने से उससे उत्पन्न होनेवाले सब सत्व त्रिगुणात्मक होते हैं, उसी प्रकार वह अचेतन होने के कारण उससे उत्पन्न होनेवाले सब तत्व अचेतन ही होते हैं। प्रायः यह नियम है कि "यथा बीजं तथांऽकुरः" इति।

अत एव च शुक्रस्य बाहुल्याज्जायते पुमान्।
रक्तस्य स्त्री, तयोः साम्ये क्लीबः॥

शुक्रार्तव के संयोग में शुक्र बाहुल्यता से पुरुष, आर्तव की अधिकता से स्त्री, दोनों की समानता से क्लीब उत्पन्न होता है।

वक्तव्य—

ऊपर यह सिद्धान्त स्थिर हो गया है कि कारण के अनुरूप ही कार्य होते हैं, इसलिये शुक्राधिक्य से पुत्र, रक्त के आधिक्य से कन्या, एवं दोनों की समानता से नपुंसक सन्तति उत्पन्न होती है। बाहुल्य शब्द का अर्थ अरुणदत्त ने "शुक्र की अधिकता से तथा अधिक सामर्थ्यवान् होने से बलपूर्वक पुरुष-बीज अल्प सामर्थ्यवान् स्त्री-रज को दबाकर संयुक्त होने पर पुरुष गर्भ का हेतु होता है[2]। इसी तरह अल्प

१—असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत् कार्यम्। (सा. का. श्लो. ९)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (श्री. भ. गीता)

एवमभिनिर्वर्तमानस्य गर्भस्य स्त्रीपुरुषत्वे हेतुरुक्तः। तथाहि बीजमनुपतत्तं स्वां-स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं हेतुर्विभागमनुविधीयते। (चरक)

२—शुक्रस्य बाहुल्याद् बहुत्वात्सामर्थ्यलभ्यत्वाच्च। पुंरेतो हि बलवदल्पं स्त्रीरजोऽभिभूय पुंगर्भस्य कारणतां याति। (अरुणदत्त)

ननु शुक्रबाहुल्यात् पुमान् इति कस्मादुक्तम्? यत आर्तवस्यैव बाहुल्यमुक्तम्, आर्तवं हि चतुरञ्जलिप्रमाणं, शुक्रन्तु प्रसृतिमात्रम्,—इति नैवं, यावन्मात्रमार्तवं गर्भाशयावस्थितं मलरहितं गर्भजननं तावदेव ग्राह्यम्, अथवा स्वमानापेक्षया शुक्रशोणितयोर्बाहुल्यमल्पत्वं चाभिप्रेतम्।

(डल्हण)

शब्द से राशि की अल्पता, कार्यकर शक्तिका असामर्थ्य अर्थ होता है। इस विषय में डल्हण ने इस तरह समाधान किया है कि—'यहाँ यह विचारणीय है कि बाहुल्य का अर्थ राशि की अधिकता करते हैं तो आर्तव का परिमाण तो शुक्र से सदैव अधिक होता है, क्योंकि "आर्तव परिमाण में चार अञ्जलि तथा शुक्र एक प्रसृति मात्र शास्त्रकारों ने बतलाया है, इसलिये सदा आर्तव की ही अधिकता प्रमाणित होती है, ऐसी स्थिति में शुक्र के बाहुल्य से क्या अर्थ ?।'

द्वितीय प्रश्न यह भी विचारणीय है कि आर्तव भी दो तरह का होता है १–अन्तःपुष्प और २--बहिःपुष्प। यहाँ पर शुक्र की अधिकता किस पुष्प से होती है, जिससे पुरुष गर्भ की उत्पत्ति होती है ?।

समाधान—प्रथम तो आर्तव शब्द से यहाँ पर उस आर्तव का ग्रहण होता है, जो गर्भाशयों में स्थित है, मलरहित है एवं गर्भ-जनन में समर्थ है। द्वितीय अर्थ—अपने अपने प्रमाण के अनुसार बहुलता या अल्पता।

राशि की अधिकता को डल्हणने भी महत्त्व नहीं दिया है। गर्भ-जनन तथा स्त्री-पुरुष भेद जनन की दृष्टि से भी राशि का कुछ महत्त्व नहीं है। इसलिये बाहुल्य शब्द से शुक्र बीज की पुरुषकारक शक्ति की अधिकता तथा आर्तव बाहुल्य में स्त्रीबीज की गर्भ में स्त्रीत्व जनक-शक्ति की अधिकता जाननी चाहिए।

इस श्लोक के पुत्र तथा कन्या की उत्पत्ति के विषय में इस सिद्धान्त को सुश्रुत[१], चरक[२], गर्भोपनिषद्[३], अष्टांगसंग्रह[४],

---

१—तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति। (सु. शा. ३)

२—रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण (अधिकेन)। (चरक)

३—पितू रेकोऽतिरेकात् पुरुषो, मातू रेकोऽतिरेकात् स्त्री, उभयोर्बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति। (गर्भोपनिषद्)

४—कार्याणाञ्च कारणानुविधायित्वात् तत्समागमतां प्रतिपद्यते। तत एव च शुक्रस्य बाहुल्यात् पुमान्, आर्तवस्य बाहुल्यात् स्त्री, तयोः साम्येन नपुंसकम्। (अष्टाङ्गसंग्रह)

मनुस्मृति[1] आदि सभी ने मान्य किया है, तथा इन्दु ने वीर्य में पुंस्त्वकारक तथ आर्तव में स्त्री जननशक्ति होती है, यह भी स्पष्ट स्वीकार किया है। यह नवीन मत इस "Ollo schoner's Theory" के साथ समन्वय रखता है।

कुछ अन्य आचार्यों के मत

(१) स्त्री-पुरुष के संयोग होने पर प्रथम पुरुष अपने वीर्य का विसर्जन करता है तो बलशाली वीर पुत्र उत्पन्न होता है, यदि स्त्री-बीज प्रथम उत्सर्जित होता है तो रूपयुक्त कन्या पैदा होती है[2]।

(२) एक यह मत भी है कि स्त्री-बीज में ही लिङ्ग-जनकता होती है। उनका कहना है कि दक्षिण बीज ग्रन्थिसे बीज का क्षरण होने से पुत्र एवं वाम बीज ग्रन्थि से बीज का क्षरण होने से कन्या की उत्पत्ति होती है[3]।

(३) प्रारम्भ के नौ दिनों में समागम करने से पुत्र, दस दिन से चौदह दिनों तक स्त्री तथा इसके पश्चात् गर्भ धारण होने से पुत्र की ही उत्पत्ति है।

भावमिश्र का मत—

सभी स्त्रियों की योनि के मध्य में तीन नाड़ियाँ होती हैं जो समीरणा, चान्द्रमसी, गौरी नाम की हैं। इन में विशेषतायें इस तरह से हैं। चन्द्रमौलि स्पष्ट करते हैं—योनिद्वार में प्रधानभूत समीरणा नाम

१—पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान् पुंस्त्री यौवाक्षीणेऽल्पे च विपर्ययः। (मनुस्मृतिः)

२—स्त्रीपुंसयोः समायोगे यद्यादौ विसृजेत् पुमान्।
शुक्रं ततः पुमान् वीरो जायते बलवान् दृढः।
अथ चेद् वनिता पूर्वं विसृजेद् रक्तपूर्वकम्।
ततो रूपान्विता कन्या जायते दृढसंहता। (दारुवाही-अरुणोद्धृतः)

३—सव्याङ्गचेष्टा पुरुषार्थिनी स्त्री। स्त्रीस्वप्रपानाशनशीलचेष्टा। सव्यात्तगर्भा नच वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते। पुत्रं त्वतो लिङ्गविपर्यये। (चरक शा. २)

की जो एक विशेष प्रकार की नाड़ी है, उसके मुख में जो शुक्र पड़ता है, वह निष्फल हो जाता है, अर्थात् उससे गर्भोत्पत्ति नहीं होती।

स्त्री के भग के मध्य में स्थित चान्द्रमसी नामक नाडी के मुख में शुक्र के गिरने पर वह सुन्दर कन्या को ही उत्पन्न करती है तथा यह स्त्री थोडी रतिक्रिया से ही साध्य होती है। जिस स्त्री के भग के मध्य में गौरी नाम की प्रधान रूप से नाडी रहती है, उसके मुख में यदि वीर्य गिरे तो स्वभावतः वह स्त्री पुत्र ही उत्पन्न करती है, एवं रतिक्रिया में विशेष करके कष्ट से[१] साध्य होती है, अर्थात् जल्दी उसका स्खलन नहीं होता। बाहुल्य शब्द के अर्थ के विषय में भावप्रकाश में भी चर्चा की है, उसका वर्णन प्रायः डल्हण के अनुसार ही है, किन्तु इसके वर्णन के साथ आधिदैविक उदाहरणसे "यथेच्छा पारमेश्वरी" पर छोड दिया है। शार्ङ्गधर ने भी पारमेश्वरी इच्छा का ही समर्थन किया है।

नव्य मत—

पाश्चात्य ग्रन्थों में इस विषय में अनेक मत हैं, तथा वे भी शुक्र और आर्तव के संयोग के समय उनकी स्थिति के अनुसार ही लिङ्गोत्पत्ति मानते हैं। यहाँ पर प्राच्य एवं प्रतीच्य मत प्रायः समान रूप में ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

(१) शुक्र में सबल और निर्बल दो प्रकार के शुक्रकीटाणु होते हैं। इन में सबलों से पुत्र तथा निर्बलों से कन्या उत्पन्न होती है।

१—मनोभवागारमुखेऽबलानां तिस्रो भवन्ति प्रमदाजनानाम्।
समीरणा चान्द्रमसी च गौरी विशेषमासामुपवर्णयामि। १।
प्रधानभूता मदनातपत्रे समीरणा नाम विशेषनाडी।
तस्या मुखे यत्पतितं तु वीर्यं तन्निष्फलं स्यादिति चन्द्रमौलिः।
या चापरा चान्द्रमसी च नाडी कन्दर्पगेहे भवति प्रधाना।
सा सुन्दरी योषितमेव सूते साध्या भवेदल्परतोत्सवेषु। ३।
गौरीति नाडी यदुपस्थगर्भे प्रधानभूता भवति स्वभावात्।
पुत्रं प्रसूते बहुधाऽङ्गना सा कष्टोपभोग्या सुरतोपविष्टा।

इनमें पुरुषत्व कारक शुक्राणु अन्य प्रकार के शुक्राणुओं से अधिक प्रबल और चपल होते हैं। इसलिये वीर्योत्सर्जन गर्भाशय द्वार के पास करने की अपेक्षा योनिद्वार के पास करने से शुक्राणुओं को अधिक लम्बा तथा कठिनाइयों के साथ सफलता से स्त्री बीज के साथ मिलकर सन्तति उत्पन्न करने में सहायता मिलती है। इसलिये पुत्रार्थी को योनिमुख में ही शुक्रपात करना चाहिए, जिससे अधिक पुत्र होने की संभावना रहती है।

ऊपर भावमिश्रोक्त नाडीत्रय के विचार के साथ यह समन्वय मेल खा सकता है।

(२) दो तरह के गर्भबीज होते हैं:—स्त्री बीज (Female Gamate), पुम्बीज (Male Gamate) इन दोनों के संयोग से ही गर्भोत्पत्ति होती है। इनमें परिपक्व बीज ही गर्भ-जनन में समर्थ होते हैं। इन दोनों बीजों में क्रोमोसोम की संख्या ४८ होती है, तथा पक्व होने पर विभजन के कारण इनकी संख्या २४ हो जाती है, अर्थात आधी हो जाती है। इनमें लिङ्गजनक दो तन्तु होते हैं। इनमें एक की "ज्ञ" संज्ञा है, यह पुम्बीज है। दूसरे की "क्ष" संज्ञा है, यह स्त्री बीज है। जब "ज्ञ" तन्तुवाले पुम्बीज का "क्ष" तन्तुवाले स्त्री बीज के साथ संयोग होता है, तब पुत्र की उत्पत्ति होती है। इसी तरह जब "क्ष" तन्तुवाला स्त्री बीज "ज्ञ" तन्तुवाले पुम्बीज के साथ मिलता है, तब कन्या की उत्पत्ति होती है। इस मत में शुक्र बाहुल्य का अर्थ होता है—दोनों गर्भ बीज के संयोग काल में स्त्री बीज का "ज्ञ" तन्तुवाले शुक्र कीट के साथ संयोग। इसी तरह "क्ष" तन्तुवाले के साथ संयोग होने पर आर्तव की बाहुल्यता स्त्री बीज नियम से "क्ष" तन्तुवाले होते हैं, ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है।

× × × शुक्रार्तवे पुनः।

वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं बह्वपत्यता।

वायुके कारण शुक्र और आर्तव के बहुत से विभजन होने पर एक से अधिक सन्तानें उत्पन्न होती हैं।

वक्तव्य—

वायु—अपानवायु। सुश्रुत ने बह्वपत्यता का कारण अपान वायु के द्वारा बीजों का विभाग होने से माना है। उनका सिद्धान्त है कि पक्वाशय में रहनेवाले अपानवायु प्रतिमास बीज का उत्सर्ग करके, उसको यथामार्ग बीजवाहिनी में ले जाना, गर्भ का उत्सर्ग करना, तथा प्रतिमास आर्तव की प्रवृत्ति आदि समस्त कार्य करता है। इसलिये यहाँ पर भी शुक्रार्तव में विभजन या बह्वबीजता भी अपान वायु के द्वारा ही होती है, इसी के परिणामस्वरूप बह्वपत्यता उत्पन्न होती है। सभी आचार्यों ने बहुगर्भता के कारण रूप में अपान वायु को ही कारण माना है, यह सभी आचार्यों का एक मत है[1]।

(१) अन्तर्वायु के द्वारा बीज विभक्त होने पर गर्भाशय में अवतीर्ण हुए दो पापी जीव यम कहलाते हैं। (सु०)

(२) जब शुक्र और शोणित मिश्रित बीज के वायु द्वारा दो विभाग हो जाय और एक विभाग में रक्त की तथा दूसरे विभाग में शुक्र की प्रबलता हो तो कन्या और पुत्र इकट्ठे पैदा होते हैं। जब स्त्री के शुक्र-शोणितरूपी बीज में शुक्र की ही अधिकता हो तथा उसके दो विभाग हों जाय तो दो पुत्र (युगल) उत्पन्न होते हैं, अर्थात्

१—पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्।
समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः। (सु. नि. अ. १)
शुक्राधिकं द्वैधमुपैति बीजं, यस्याः सुतौ सा सहितौ प्रसूते।
रक्ताधिकं वा यदि भेदमेति द्विधा सुते सा सहिते प्रसूते।
भिनत्ति यावद् बहुधा प्रपन्नः, शुक्रार्तवं वायुरतिप्रवृद्धः।
तावन्त्यपत्यानि यथाविभागं कर्मात्मकत्वान्यस्ववशात् प्रसूते।
(चरक शा० २ श्लो० १२–१४)
यदा तु कललं वायुस्तद्द्विधा कुरुते बली।
यमौ तदा संभवतः कृष्णात्रेयवचो यथा। (भेड सं० १ शा.)

विभक्त बीज के दोनों विभागों में शुक्र की अधिकता होने से जो यम सन्तति उत्पन्न होगी वह पुत्रों की ही होगी। जब अत्यन्त प्रवृद्ध हुई वायु-बीज को तीन, चार, पांच प्रभृति विभागों में विभक्त कर देती है, तब विभाग के अनुसार उतनी ही संख्या में अपने-अपने कर्मानुसार सन्ततियों की उत्पत्ति होती है। पूर्वजन्मकृत तथा विषमांश भेद से वायु के द्वारा बीज के टुकडे हो जाते हैं, जितने विभाग में शुक्र की अधिकता होती है, उतने पुत्र तथा जितने विभागों में रक्त की अधिकता होती है उतनी ही कन्यायें उत्पन्न होती हैं। (चरक)

(३) जब वायु कलल को दो भागों में विभक्त कर देता है, तब युग्म बालक की उत्पत्ति होती है ऐसा कृष्णात्रेय का वचन है। यही वायु कलल का नाना विभजन करके पशुओं में बहुगर्भता उत्पन्न करता है। (भेड महर्षि)

(४) मिश्रीभूत शुक्र तथा आर्तव को अपने विशिष्ट कारणों से वायु के द्वारा कई खण्डों में विभाजित होने से परिणामस्वरूप विभागों की संख्या के अनुसार बहुत सन्तानों की उत्पत्ति होती है, परिणामस्वरूप जितने खण्डों में गर्भ का विभाजन होगा उतनी ही संन्तानें (युग्म, त्रिक, चतुष्क, पञ्चक) उत्पन्न होंगीं। (इन्दु)[१]

"वियोनिर्विकृताकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः ॥"

वियोनि तथा विकृताकृतिवाले गर्भों की उत्पत्ति विकृत (दूषित-उन्मार्गगामी) वातादि दोषों से शुक्र और आर्तव के दूषित होने पर तथा गर्भिणी के मिथ्याहार-विहार एवं आचार से दूषित वातादि दोषों से भी होती है।

वक्तव्य—यद्यपि वियोनि तथा विकृताकार सन्तति की उत्पत्ति में प्रधानतः दूषित वायु ही होता है, किन्तु दूषित अन्य दोष भी जब

१—मिश्रीभूतं च शुक्रार्तवं स्वविशिष्टहेतुकोऽनिलो यदा खण्डशः करोति, तदा बह्वीनामपत्यानामुत्पत्तिः। (इन्दु. शा.)

शुक्र और आर्तव को किसी भी प्रकार से विकृत करते हैं, तब विकृत योनि तथा विकृताकृति गर्भों की उत्पत्ति होती है। वियोनि—मृग-मेष मार्जार आदि। विकृताकृति—काण-पंगु आदि। चरक ने विकृताकृति गर्भों की उत्पत्ति में प्रधान ६ कारण निम्नलिखित बतलाये हैं। (१) बीजदोष, (२) पापकर्म, (३) गर्भाशय (योनिदोष), (४) कालदोष, (५) माता के आहारविहारदोष, और (६) श्रद्धाविघात।

१.—**बीजदोष**[१]—माता के बीज तथा पिता के शुक्राणुओं के अशुद्धिजन्य दोष।

२. **पापकर्म**—माता-पिता के पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के पापाचरण। (जैसा सुश्रुत ने बतलाया है) एवं पूर्वजन्मकृत पापकर्म।

३. **गर्भाशयदोष**—उपदंश, पूयमेह, प्रदर, गर्भाशयशोथ तथा गर्भाशय एवं योनि-व्यापत्तियाँ।

४. **कालदोष**—काल से माता-पिता का वय; समागमकाल की गर्भस्थिति; समय तथा माता-पिता का आयुर्वेदोक्त सिद्धान्तानुसार अतिवृद्ध या अतिबालक होना आदि।

५. **माता के आहार-विहारदोष**—गर्भस्थिति के बाद आहार-विहार से होनेवाली विकृतियाँ। क्योंकि गर्भधारण के पूर्व के आहार-विहारजन्य दोष बीज तथा गर्भाशय के विकारों में समाविष्ट हो जाते हैं[२]।

६. **श्रद्धाविघात**—आचार्य स्वयं इसी अध्याय में ५४ श्लोक में कहेंगे। इसी का समर्थन याज्ञवल्क्यस्मृति में मिलता है[३]।

१—विकृतैर्मलैः वातादिभिर्दुष्टैरुन्मार्गगामिभिः। —अ० ह० "विकृते वियोन्याकृतीनां च" यदा त्वनिलो वाऽन्यो वा दोषः शुक्रार्तवं केनचित् प्रकारेण विकरोति तदा विकृतयोनीनां विकृताकृतीनां च गर्भाणां सम्भवः। —इन्दुः।

२—बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः।
कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि।
वर्षासु काष्ठाश्मघनाम्बुवेगास्तरोः सरित् स्रोतसि संस्थितस्य।
यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः। —च० शा० २

३—कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च।
गर्भस्य वैकृतं दृष्टमङ्गहीनादि जन्मतः। —याज्ञवल्क्य स्मृतिः ३।१६९

वियोनि तथा विकृताकारों में अङ्गों की अधिकता, शरीर की अधिकता, शरीर की अत्यधिक स्थूलता, हीनाङ्ग, अङ्गों का विपर्यास, अङ्गों का कम वृद्धि होना, दो गर्भ परस्पर में जुडे हुए होना, कुबडा, तथा सर्प-वृश्चिकादि के समान विकारी आदि गर्भों का समावेश हो जाता है। सुश्रुत ने सर्पादि आकृतिवालों की उत्पत्ति-पापकर्मजन्य, कुब्ज आदि की माता-पिता की नास्तिकता एवं पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्म तथा वातादि दोषों के प्रकोप से बतलाया है। सुश्रुत ने इन व्याधियों को "जन्मबलप्रवृत्त" नाम दिया है। गर्भावक्रान्ति के समय ये अस्वाभाविक वृद्धि और अस्वाभाविक वृद्धियुक्त सभी विकृताकृति एवं वियोनि गर्भ लिये हैं[१]।

मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम्।
वत्सरात् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ ७ ॥

स्त्रियाँ प्रति मास रसजन्य आर्तव का तीन दिन तक स्राव करती हैं। यह स्राव बारह वर्ष की आयु से पीछे प्रारम्भ हो कर पचास वर्ष की आयु पर्यन्त बराबर जारी रहता है। यह रक्त प्रति मास स्त्रियों के गर्भाशय में आकर तीन दिन तक स्रवित होता रहता है, प्रत्येक ऋतु समय में ही स्राव होने से इसको आर्त्तव कहते हैं[२]।

वक्तव्य—इस श्लोक में आर्तवकाल, रजोत्पत्ति, स्राव की अवधि, तथा रजःक्षयकाल—इन चारों का संक्षेपतः वर्णन है। इस विषय का आचार्यों ने बहुत विस्तृत वर्णन किया है, यहाँ पर उसमें आवश्यक विषयों पर हीं संक्षेप में सार भाग का वर्णन किया जाता है।

१--सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये।
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम्। (सु० शा० ४)
--जन्मबलप्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पंगुजात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामनप्रभृतयो दोषाः जायन्ते। —सु० सू० ३४

२--रक्तमेव हि स्त्रीणां मासि मासि गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्तमानमार्तवमाहुः।
ऋतौ भवमार्तवम्। —वृ० वा० शा० १।

आर्तव—जब कन्या यौवनावस्था में आती है, तब प्रतिमास लगभग नियमित समय पर उसके आभ्यन्तरिक जननेन्द्रियों में विशेषतया डिम्भग्रन्थियों में तथा गर्भाशयान्तरिक श्लैष्मिककला में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप गर्भाशय से श्लेष्मायुक्त रक्तस्राव योनिद्वार से निकलता है। इनके नाम हैं—रज, आर्तव, पुष्प, रक्त, बीज, ऋतुस्राव, या मासिकस्राव। यौवनारम्भ निर्देशक प्राथमिक स्राव को "रजोदर्शन" कहते हैं। जितने दिन तक स्राव चलता रहता है, उस समय तक स्त्री को "रजस्वला" कहा जाता है। वृद्धावस्था के निकट में आर्तव निकलना बन्द हो जाता है, अतः इस काल को "रजःक्षयकाल" कहते हैं। गर्भ-धारण के बाद सगर्भावस्था में तथा जब तक स्त्री बच्चे को दूध पिलाती है, तब तक आर्तवस्राव प्रायः बन्द रहता है। रजःस्राव के साथ ही यौवनावस्थासूचक तथा स्त्री की पूर्णायु के द्योतक, स्त्री में कई अन्य शारीरिक एवं मानसिक भावों में परिवर्तन भी होने लगते हैं। जैसे—स्तनों का विकास, गर्भाशय और योनि-विकास के साथ ही भगस्थान पर केशों का निकलना आदि[१]। रज स्त्री के जिन अङ्गों में उत्पन्न होता है, वे यौवनावस्था के साथ क्रमशः अधिक कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं। तथा रक्त के साथ मिल कर युवावस्था तथा प्रजनन कार्य से सम्बन्धित शरीर के विभिन्न अवयवों को पुष्ट एवं प्रबल बनाता है। अतएव, युवावस्था की विशेषता भी पैदा हो जाती है। इस वस्तु को "अन्तःस्राव" कहते हैं।[२]

१—नारीणां रजसि चोपचीयमाने शनैः शनैः स्तनगर्भाशययोन्यभिवृद्धिर्भवति।
रोमराज्यादयश्च विशेषा नारीणाम्। —सु० सू० १४

२—स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टमः।
रजोवहाः सिरा यस्मिन् रजः प्रविसृजन्त्यतः।
पुष्पभूतं हि तद् दैवान्मासि मासि प्रवर्तते॥
हीनयोन्यास्तु बालायाः कायं गच्छति शोणितम्।
अथ पूर्णस्वभावायाः कायं योनिञ्च गच्छति॥
धातुषु प्रतिपूर्णेषु शरीरे समवस्थिते।
सञ्चितं रुधिरं योनिः पुनः कालेन मुञ्चति॥ —का० संहिता

आर्तव-प्रवृत्ति का वर्णन काश्यपसंहिता में इस तरह है—"गर्भाशय में जो रजोवह सिराएँ होती हैं वे वहाँ रज का विसर्जन करती हैं, वही पुष्पसदृश रज प्रतिमास युवतियों में प्रवर्तित होता रहता है। बाल्यावस्था में "हीनयोनि"—के कारण रक्त समस्त शरीर में विद्यमान रहता है (तथापि मासिक स्राव नहीं होता), किन्तु पूर्ण अवस्था प्राप्त होने के बाद वही समस्त शरीर से योनि की तरफ प्रवृत्त होता है। इस तरह स्त्रियों का रक्त प्रतिमास गर्भकोष्ठ को प्राप्त हो कर तीन या चार दिन तक जो योनिमार्ग से बाहर निकलता है, उसको "आर्तव" कहते हैं।"

रजोत्पत्ति—"रसजं रजः" यह आर्तव संज्ञक रज स्वयं आहार रसका परिणाम है, न कि रसधातु का[1]। यह स्वरूप में रक्त रसजन्य होते हुए भी धातु शोणित की तरह शीघ्र उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु शुक्र की तरह प्रत्येक मास में ही इसकी उत्पत्ति होती है[2]। "केदारकुल्यान्याय" से यह सर्वसम्मत सिद्ध है कि केवल रज ही नहीं, अपितु रक्त भी आहार रस का ही परिणाम है। इसमें कुछ भी शंका का अवसर नहीं है, कुछ विद्वान् ऐसे विचार प्रकट करते हैं, किन्तु वस्तुतः निर्वृत्ति तथा निर्माण काल में भेद बताने के लिये यह पुनरुक्ति की गई है, ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है।

स्राव की अवधि—स्राव का काल प्रायः तीन दिन है, किन्तु कम-से-कम ३ दिन तक तथा अधिक-से-अधिक ७ दिन तक प्राकृतिक माना गया है[3]। इससे कम या अधिक होना रोग का लक्षण जानना चाहिये। इस काल में भिन्नता स्त्रियों के स्वास्थ्य तथा प्रकृति के आधार पर होती है।

१—ननु रसधातोर्जातमिति बोधनार्थमिह रसजत्वाभिधानमित्यरुणदत्तः।

२—एवं मासेन रसः शुक्रीभवति, स्त्रीणाञ्चार्तवम् इति। —सु० सू० १४

३—रजः सप्तदिनं यावदृतुश्च भिषजांवर। —हारीतसंहिता

रजोदर्शन की अवस्था—रजोदर्शन का काल भारतवर्ष में साधारणतया १२-१४ वर्ष की आयु तक होता है। निम्नलिखित अवस्थाओं में रजोदर्शन काल में भिन्नता आ जाती है—(१) देश—उष्ण देशों में शीतप्रधान देशों की अपेक्षा रजोदर्शन जल्दी होता है। (२) परिस्थितिवश—चिरकालीन रोगों से पीडित तथा दुर्बलता की परिस्थिति में रजोदर्शन देर से होता है। बडे शहरों में रहनेवाली लडकियों में शहरों के आधुनिक उत्तेजक आहार-विहार तथा रहन-सहन का ढंग, सामाजिक अवस्था के कारण ग्रामीण शुद्ध सात्विक आहार-विहार में पोषित लडकियों की अपेक्षा रजोदर्शन जल्दी होता है।

रजोनिवृत्तिकाल—पचास वर्ष के बाद रजोनिवृत्ति हो जाती है। रजोदर्शन के समय यौवन के ये लक्षण—स्तन, गर्भाशय, नितम्ब प्रदेश का मोटा होना, मुख पर सुन्दरता आदि उत्पन्न होते हैं और रजोनिवृत्ति के समय ये अवयव संकुचित होने लग जाते हैं। दाढी मूँछों के स्थान पर कुछ केशों का उत्पन्न होना, शरीर की स्थूलता या कृशता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। किसीकिसी को बीजकोष के अन्तः-स्राव बन्द हो जाने पर थाईरॉईड (अधिवृक्क) का अन्तःस्राव, अधिक मात्रा में रक्त जाने पर तेज मिजाज, बेचैनी, चिडचिडापन किसी-किसी को उन्माद के लक्षण और उद्विग्नचित्तता आदि भी हो जाते हैं। इसके अलावा अरुचि, निद्रानाश, हृद्रोग, अपस्मार, ऊर्ध्ववात, शिरोभ्रम, बद्धविट्कता आदि भी हो जाते हैं[1]। जैसे रजोदर्शन यौवनावस्था काम-

---

१—स्तनयोनिधराबीजग्रन्थीनां शीर्णताक्षयः।
वृद्धिर्वा मेदसो, धातोर्वैस्वर्यं विम्नचित्तता॥
रोमोद्‌गमो मुखे रौक्ष्य-मिति रूपविपर्ययः।
निद्राक्षयो भ्रमः कम्पोऽरोचको बद्धविट्‌कता॥
हृत्स्पन्दोऽपस्मृतिर्ध्मानि-मिति लिङ्गान्यपि क्वचित्।
—अभिनवप्रसूतितन्त्रम्

सूचक है, वैसे ही रजोनिवृत्ति स्त्रियों की वृद्धावस्था का सूचक भी है। रज के क्षीण होने पर गर्भधारण-शक्ति नष्ट हो जाती है।

आर्तवचक्र—सूक्ष्मप्रवृत्ति, संचय तथा निर्हरण भेदसे रजःस्राव की तीन अवस्था होती है। सिद्धान्ततः आर्तव शोणित के दो ही भेद हैं। (१) उद्भूत (बहिःपुष्प) और (२) अनुद्भूत (अन्तःपुष्प)। उद्भूत उसको कहते हैं, जो अप्रशस्त ऋतुकाल के प्रारंभ में ३ - ४ दिन तक प्रत्यक्ष रूप से बाहर निकलने वाला रक्तस्राव है; यह गर्भोत्पत्ति के लिये अयोग्य होता है। अनुद्भूत रज उसे कहते हैं जो प्रशस्त ऋतुकाल में अर्थात् स्रावोत्तर समय के बाद अप्रत्यक्ष रूप में निकलता है, यही रज पुरुष-संसर्ग से विसर्पित होकर शुक्र के साथ मिलकर गर्भाधान में सहायक होता है। यह प्राचीनाचार्यों का मत है। पांचरात्रि तक निकलनेवाले स्राव को ' बहिःपुष्प ' या ' जीर्ण शोणित ' तथा उसके बाद बारह रात्रि तक पुरुष-संसर्ग से विसर्पित होने वाला गर्भारम्भक रज—अनुद्भूत रज को ' अन्तःपुष्प ' या ' नवशोणित ' कहते हैं[1]।

यहां पर जीर्ण शोणित का उपचय तो तीन दिन से पांच दिनों में बन्द हो जाता है, तथा नवशोणित स्वल्प रहता ही है और वह स्राव के योग्य भी नहीं रहता, फिर उसका संचार कैसे होता है, तथा शुक्र के साथ मिलकर गर्भधारण में कैसे सहायक होता है। इस शंका का समाधान डल्हण ने इस तरह दिया है—

१—मासान्निष्पिच्छदाहार्तीति श्लोकव्याख्यायाम्—

पंचरात्रानुबन्धीति–उद्भूततया पञ्चरात्रमनुबध्नातीति पञ्चरात्रानुबन्धि, द्वादशरात्रानुबन्धित्वादार्तवकालस्य, किंवा द्वादशरात्रिपर्यन्तं गर्भारम्भकत्वमार्तवस्य नतु प्रवृत्तिः। इति। (चक्रपाणिः)

पञ्चरात्रानुबन्धीति–– पञ्चरात्रं प्रभूतप्रवृत्त्याऽनुबध्नातीत्यर्थः। अल्पप्रवृत्त्या पञ्चरात्रात् परतोऽप्यनुबध्नातीति।

(मधुकोषश्च)।

"जिस तरह घृत का पिण्ड अग्नि के संयोग से पिघलने लगता है, उसी तरह पुरुष के साथ संगम करने पर स्त्रियों का आर्तव भी विसर्पित हो जाता है[१]।

आर्तव की मात्रा—स्त्रियों में रज का परिणाम चार अञ्जलि होता है[२]। (वा०)। चरक ने स्रावकाल, अवधि, आनुषङ्गिक लक्षण तथा आर्तव-प्रमाण का भी संक्षेप से वर्णन करते हुए लिखा है—मल-मूत्रादि की प्रवृत्ति की तरह आर्तवस्राव भी प्रतिमास स्त्रियों के शरीर का स्वाभाविक धर्म है, इसलिये इसमें पिच्छिलता, मात्रा में न बहुत ज्यादा न बहुत कम आने वाला आर्तव शुद्ध होता है। पंचरात्रानुबन्धी शब्द मर्यादापरक है[३]। इसका भाव यह है कि तीन दिन से लेकर अधिक से अधिक पांच दिन तक। अन्यथा उपरोक्त वाग्भट वचन असिद्ध होता है। एकवाक्यता के लिये वाग्भट ने न्यून से न्यून तीन दिन और चरक ने अधिक से अधिक पांच दिन माने हैं। वस्तुतः जब अधिक से अधिक का विचार होगा तो पांच दिन ही मानने पड़ेंगे। इसलिये दोनों के मत से यह निष्कर्ष निकलता है कि, तीन दिन से पांच दिन तक होने वाला आर्तव शुद्ध होता है। आर्तवशोणित-स्राव का परिमाण

१—ननु पुराणमार्तवमुपचयाद्दिनत्रयं स्रुत्वा स्वयमेव निवृत्तं नूतनं स्वल्पं स्त्यानीभूतमिव प्रवर्त्तितुमक्षमं, तत् कथमार्तवसंचारो येन तत् संसृष्टं शुक्रं गर्भजननसमर्थं भवतीत्याशंक्याह—घृतेत्यादि। घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते। विसर्पत्यार्तवं नार्यास्तथा पुंसां समागमे। पुंसां समागमे इन्द्रियद्वयसंघर्षजेनोष्मणा विलीनमार्तवं विसर्पति। तच्च विसर्पितं शुक्रोपगतं गर्भाशयमनुप्राप्तं जीवोपगतं गर्भसंभवहेतुर्भवति। डल्हण–शा० अ० २, श्लो. ३९

२—द्वावञ्जली तु स्तन्यस्य चत्वारो रजसः स्त्रियाः।

—वा० शा० २

३—मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च॥
नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् —च० चि० अ० ३० श्लो० २१४।
दिनत्रयं प्रवृत्तिश्च शोणितं कुरुते स्त्रियाः। पञ्चरात्रानुबन्धि च।

—चरक

सब स्वस्थ स्त्रियों में समान नहीं होता है, इसलिये आचार्यों ने निश्चित परिमाण न बतलाकर अति शब्द का प्रयोग बहुत ही महत्व-पूर्वक रख दिया है। पाश्चात्य मत में ९ तोला से १६ तोला तक तथा ५ तोला से २० तोला तक माना है।

रज होने के कारण—अवस्था के परिपक्व होने पर काल-स्वभाव तथा सूक्ष्मस्थित रज परिपक्वावस्था में अभिव्यक्त होता है। (का० सं०)। यद्यपि जब आहाररस से आर्तव-शोणित की उत्पत्ति होती है, तभी जीवन के प्रारम्भ से ही आर्तव की उत्पत्ति हो जाती है, जैसा सुश्रुत के मुकुलस्थ पुष्प (पुष्प की कली) के उदाहरण से तथा चक्रपाणि ने शारीरस्थान श्लोक ३१ की टीका में "आर्तवञ्च गर्भकाल एव भवति। येन सतामार्तववदन्तःश्मश्रुप्रभृतीनां काले व्यक्तिर्भवति" इस वचन से यही स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इसी सिद्धांत से मिलते वचन काश्यप-संहिता कार ने भी दिये हैं।

पुष्प के मध्य में ही फल की अभिनिवृत्ति होती है, परंतु प्रयत्न के अभाव में उसकी उपलब्धि नहीं होती। उसी तरह स्त्री-पुरुष में शुक्र-शोणित की उत्पत्ति कालापेक्षित है किन्तु आहार-विशेष से इसमें भी अन्तर हो सकता है[1]।

रज के कार्य—तीन प्रकार के होते हैं। (१) स्त्रीशरीर की विशुद्धि, (२) गर्भाशय का क्षेत्रीकरण, और (३) गर्भकृत्व। इनमें विशोधन कार्य—दूषित रक्त के निकल जाने से तथा गर्भ की पुष्टि के लिये सञ्चित सुधाराशि "केल्सीयम" जो कुछ काम में आने वाली

१—यथा च पुष्पमध्ये फलमनिवृत्तं सर्वमतः प्रयत्नाभावात् नोपलभ्यते तथा स्त्रीपुंसयोः शोणितशुक्रे कालापेक्षे स्वकर्मापेक्षे च भवतः। षोडशवर्षयोर्हि शोणित-शुक्रयोर्मध्ये प्रभवतः। अर्वागपि यदाहारविशेषात् पूर्णे भवतः। (जातिसूत्रीये काश्यपः)

नहीं हैं, उसके नाश हो जाने से स्त्री-धातु-रक्त की शुद्धि होने से स्त्री-शरीर की शुद्धि हो जाती है।

क्षेत्रीकरण—गर्भाशय में जो कलायें स्थूल हो गई हैं उनके साथ संसृष्टबीज जैसे स्थिर तथा वपनकारी होगा वैसे ही क्षेत्रीकरण हो जावेगा। गर्भकृत्व तो स्पष्ट ही है। पुरुष संगम में विसृष्ट पुरुष शुक्र के साथ इसके संसर्ग में गर्भोत्पत्ति होती है। इसको अधिक स्पष्ट करें तो निम्न प्रकार से कर सकते हैं—(१) आर्तवस्राव से स्त्री के अपत्यपथ की स्थिति तथा प्रतिक्रिया शुक्राणुओं के प्रवेश अर्थात् गर्भाधान के अनुकूल होती है। (२) रजोदर्शन के प्रारम्भ होने पर यौवनावस्था का प्रारंभ और क्षय होने पर वृद्धावस्था का प्रारंभ अनायास ही हो जाता है। (३) रजोदर्शन से ही गर्भाधान के लिये योग्यकाल तथा गर्भाधान रोकने के समय का ज्ञान कर सकते हैं। (४) प्रतिमास रजःस्राव ठीक होने से साधारणतया स्त्री में विकृत दोषों का निर्हरण हो जाने से स्त्री का स्वास्थ्य अच्छा रहता है। आर्तव के सम्बन्ध में आधुनिकों का भी यही मत है। (५) यथाकाल—आर्तवस्राव न होने से स्त्री में स्त्रीत्व की न्यूनता अथवा उसकी स्वस्थता में सन्देह होने लगता, है, इसी तरह मासिकधर्म ठीक समय पर न होने से भी स्त्री की अस्वस्थता का अनुमान कर सकते हैं। (६) प्रसव समय के निश्चय करने के लिये भी रजोदर्शन के आधार पर प्रसव काल-निर्णय करना अत्यन्त सुगम तथा सबके लिये सरल है। (७) डल्हन ने इस विषय में बहुत ही सुन्दर लिखा है—"सञ्चितरक्त के निकल जाने पर नवीन रज का संचय होता है, इस क्रिया द्वारा स्त्री की शुद्धि होती है तथा उसके सर्व शरीर गत दोषों की शुद्धि हो जाती है, अतएव स्त्रियों में प्रमेह नहीं होता तथा पुरुषों के साथ समागम और गर्भाधान के योग्य हो जाती है"[1]।

---

१ नवे तनौ च संजाते विगते जीर्णशोणिते।
नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा।
रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति।
सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः। (डल्हन)

(८) सर्वसाधारण जनता को सगर्भावस्था का ज्ञान के लिये रजोदर्शन के प्रारंभ में स्त्री पुरुष समागम होने के बाद आर्तव दर्शन न होना गर्भाधान का मुख्य लक्षण है।

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥ ८ ॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते....।

जो स्त्री आयु में पूर्ण सोलह वर्ष की हो चुकी हो, इसी तरह पुरुष की भी पूर्ण बीस वर्ष की आयु हो, इन दोनों के समागम से जो गर्भाधान होता है, उस गर्भ से बल-वीर्य शाली पुत्र उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—यह वर्णन परिपूर्ण रस-रक्तादि सप्त धातु तथा शुद्ध शुक्र और आर्तव युक्त-स्त्री पुरुषों का है, क्योंकि यह साधारण नियम है कि षोडश वर्ष पूर्व स्त्री या पुरुष स्वस्थ सन्तति उत्पन्न करने योग्य नहीं होते क्योंकि उनका रज वीर्य अपक्व रहता है। इसलिये इस अवस्था के पूर्व स्त्री पुरुषों का आर्तव तथा शुक्र अपरिपक्व होने से, अपरिपक्व बीज जैसे उत्तम अंकुरोत्पत्ति में असमर्थ होता है, उसी तरह यह भी उत्तम सन्तति की उत्पत्ति के लिये असमर्थ होते हैं।

सुश्रुत तथा वृद्धवाग्भट ने पूर्णवयस्क पुरुष तथा पूर्णायु स्त्री का एक मापदण्ड निश्चित किया है। इसके अनुसार पूर्ण वयस्क स्त्री-पुरुषों को ही अपत्योत्पत्ति करने का अधिकार है।

(१) पुरुष पच्चीस वर्ष की आयु में तथा स्त्री सोलह वर्ष की अवस्था में परिपूर्ण वीर्यवान् होते हैं, ऐसा कुशल वैद्य को जानना चाहिये[१]।

---

१ पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्। (सु. सू. ३५)

(२) सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री तथा पचीस वर्ष से कम आयुवाला पुरुष हो, एवं इन दोनों के संगम से गर्भाधान हो तो, वह गर्भ कुछ दिन में ही विनष्ट हो जाता है–किसी तरह सन्तानोत्पन्न भी हो जाय तो चिरजीवी नहीं होता है; किसी तरह जीवित भी रहे तो वह दुर्बलेन्द्रिय होता है, इसलिए अत्यन्त बालावस्था में गर्भाधान कदापि नहीं करना चाहिए[1]।

सोलह वर्ष की स्त्री को आयु होने पर पचीस वर्ष की अवस्था वाला पुरुष पुत्रोत्पत्ति के लिये प्रयत्न करे, क्योंकि इस सोलह तथा पचीस वर्ष की उम्र में ही ये दोनों परिपक्व वीर्य प्राप्त कर वीर्यशाली सन्तति उत्पन्न कर सकते हैं। (वृ० वा०) यहां पर यह विचारणीय है कि २५-१६ वर्ष के पुरुष और स्त्री की अवस्था में सम्बन्ध करने के लिये सुश्रुत तथा संग्रह का आदेश है। इसका भाव यह है कि स्त्री और पुरुष जब युवावस्था में आते हैं, तब पुरुषों में शुक्र तथा स्त्रियों में आर्तव और स्त्रीबीज बनना प्रारम्भ होता है। इसका साधारण काल स्त्रियों में बारह वर्ष का तथा पुरुषों में सोलह वर्ष का होता है। इस समय स्त्री-पुरुषों की बीज ग्रन्थियों में ऐसी वस्तु उत्पन्न होने लगती है, जो रक्त के साथ मिलकर देह के नानाविध अङ्ग-प्रत्यङ्गों में जाकर उनको पुष्ट और प्रबल बनाती है। इसलिये स्त्री के लिये १६ वर्ष, पुरुष के लिये पचीस वर्ष का काल समुचित है। इससे पहले का काल स्त्री–पुरुष के लिये अपरिपूर्ण बीज होने से उचित नहीं है। इसीलिये सुश्रुत ने "समत्वागतवीर्यौ" यह स्त्री पुरुषों के लिये दिया है। अर्थात् "जिनकी वीर्य–शक्ति या रसादि धातु परिपूर्ण हो। यद्यपि स्त्री का श्रोणिप्रदेश तथा पुरुष का उरःप्रभृति अङ्ग कुछ को युवावस्था में ही सम्पूर्ण प्रमाण में होते हैं, जैसे–सुश्रुत में चक्रपाणि ने कहा है कि

---

१ ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते। जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्। (सु. शा. १०)

"पचीस वर्ष में पुरुष तथा षोडश वर्ष में स्त्री सम्पूर्ण मानता को तथा जीवित चतुर्थ भाग में भी प्राप्त होती हैं[1]।" इससे सभी आचार्यों का विशेष मत २५ वर्ष पुरुष के लिये, तथा १६ वर्ष स्त्री के लिये ही है, क्योंकि प्रारम्भिक गर्भाधान के लिए यही समय उत्तम है।

गर्भाशय—वह अङ्ग है, जिसमें गर्भ रहता है। यह अङ्ग श्रोणिगुहा तथा मलाशय के मध्य में होता है। इसके दोनों तरफ दो बन्धन होते हैं। इन्हें ही पक्षबन्धन कहते हैं। इनमें दोनों तरफ दो बीजग्रन्थियाँ रहती हैं, जिनमें बीज उत्पन्न होकर आता है और पक्षबन्धन के ऊपर किनारे में स्थित बीजवाहिनियों द्वारा गर्भाशय में आता है। गर्भाशय का आकार अधोमुख कुछ तुम्बीफल के समान, परन्तु चपटा होता है। कुमारी स्त्रियों में इसकी लम्बाई तीन इञ्च, चौड़ाई दो इञ्च मोटाई एक इञ्च के लगभग होती है, इसका बजन ढाई से तीन तोला तक होता है। प्रजाता स्त्रियों में ये सब परिमाण में कुछ अधिक हो जाते हैं।

मार्ग—योनिमार्ग। इसका स्वरूप एक नलिका के सदृश है, जो भग तथा गर्भाशय का संयोजन करती है। इसकी पूर्व भित्ती २–३ इञ्च लम्बी होती है और ग्रीवा से उसके मध्योर्ध्व तृतीयांश के सन्धि स्थल पर मिलती है। पूर्वभाग मूत्र प्रसेक तथा मूत्राशय के आधार से एवं पश्चिम भाग मूत्रपिण्डिका मलाशय तथा योनि गुदान्तरीय से

तस्यां षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं प्रयतेत। तदा हि तौ प्राप्त-वीर्यौ वीर्यान्वितमपत्यं जनयतः। (वृ० वा० शा० १।

स्त्रीश्रोणिपुरुषोरःप्रभृतीनामङ्गानां केषाञ्चिद् यौवन एव सम्पूर्णमानता भवति) उक्तञ्चान्यत्र—

वर्षे च पञ्चविंशे नरः समन्वितबलः षोडशे नारी। अर्हति मानोन्मानं जीवित-भागे चतुर्थे वा।—चक्रपाणिः।

सम्बन्धित है। दोनों पार्श्वों में वायुधारिणी नामक दो पेशियां होती हैं। नलिका का ऊर्ध्व भाग चार कोणों में—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, तथा वाम भाग विभाजित किया गया है। इनमें पूर्व कोण उत्तानतम तथा पश्चिम कोण गम्भीरतम होता है, और बायें तथा दाहिने वाले दोनों पार्श्वकोण अत्यन्त गम्भीर नहीं होते हैं, क्योंकि वे जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे ही कम होते जाते हैं।

आयुर्वेद के महर्षियों ने योनि तथा गर्भाशय का वर्णन इस तरह किया है—"योनि शङ्ख नाभि की आकृति की होती है, उसमें तीन आवर्त होते हैं, तथा इसके तीसरे आवर्त में गर्भशय्या प्रतिष्ठित है। शंख की नाभि के सदृश कहने का भाव यह है कि यह जहाँ से प्रारंभ होती है, वहां पर संवृत होती है। मध्य में विवृत तथा पुनः गर्भाशय के समीप पहुंचकर सङ्कुचित होती है[१]।

शुद्ध गर्भाशय—गर्भाशय-शुद्धि का तात्पर्य है, सामान्यतः चतुर्थ दिन रजःस्राव बन्द हो जाता है। उस दिन स्त्रियाँ स्नान करके रजस्वला संज्ञा से निवृत्त हो जाती हैं, उस समय जीर्ण रक्त के निकल जाने से गर्भाशय की शुद्धि हो जाती है, तथा नवीन प्रशस्त आर्तव का आगमन होने लग जाता है, इसी अवस्था में उसे "ऋतुस्नाता" या "शुद्धस्नाता" कहा जाता है। अर्थात् दूषित आर्तव के निकल जाने

१-शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता। तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता। (सु० शा० ५)

योनिशब्देन भगोष्ठो योनिर्भागो गर्भाशयश्च लक्ष्यते साकल्येन पृथक्त्वेन वा।
स्त्रीणान्तु बस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः।— (वैतरण)

भगस्याधः स्त्रिया बस्तिरूर्ध्वं गर्भाशयः स्थितः।
गर्भाशयश्च बस्तिश्च महास्रोतःसमाश्रितौ।
स्त्रीणान्तु बस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः सन्निकृष्टः। (सु० चि० ७)
पित्तपक्वाशययोर्मध्ये गर्भशय्या, यत्र गर्भस्तिष्ठति। (सु० शा० ५)
वास्तिरिति पाठः श्रेयान्- इति श्रीगणनाथसरस्वती।

से अन्तःशुद्धि तथा स्नानादि से बहिःशुद्धि स्त्री की हो जाती है। यही समय स्त्री–पुरुष के संयोग का होता है।

आर्तव तथा शुक्र—वातादि दोषों की दुष्टि से रहित तथा आगे कहे जाने वाले शुद्ध लक्षणों से युक्त।

हृद्गत अनिल—हृदय में व्यान वायु रहता है, उसके शुद्ध होने पर गर्भोत्पत्ति में सहायता मिलती है। इसका वर्णन आयुर्वेदाचार्यों ने इस तरह किया है "व्यान वायु हृदय में रहता है, और बड़े वेग से समस्त शरीर में गमन करता है, प्राणादि की अपेक्षा इसकी गति अधिक तेज है, गमनागमन, प्रसारण, आकुञ्चन, ऊपर–नीचे को फेंकना, आखें खोलना- बन्द करना, अन्न का स्वाद, जृम्भा लेना, स्रोतों का विशोधन स्वेद तथा रक्त का निकालना आदि इसके कार्य हैं, इतना ही नहीं इसका महत्त्व का कार्य पुरुष से क्षरित शुक्र को गर्भाशय में पहुंचाना, अन्न के किट्ट से सार भाग को पृथक् करना तथा उससे क्रमशः धातुओं का तर्पण यह भी कार्य है। (वृ. वा. १)। अमरकोषकार ने "हृदि प्राणो गुदेऽपानः" इस वचन से हृदय को प्राण वायु का मुख्य स्थान माना है। वस्तुतः प्राण वायु का प्रधान स्थान मूर्धा है। "प्राणोऽत्र मूर्धगः" किन्तु इसका संरक्षण हृदय और कण्ठ में होता है। व्यान वायु का मुख्य स्थान हृदय ही है। "व्यानो हृदि स्थितः।"

(अ० हृ० सू० १२ अ०)

वातादिकुणपग्रन्थिपूयक्षीणमलाह्वयम्।
बीजासमर्थं रेतोऽस्रं—

जो शुक्र और आर्तव वातादि दोषों से तथा कुणप, ग्रन्थि, पूय, क्षीण, मल शब्द से दूषित वर्णित किया है, वह बीज के (प्रजोत्पत्ति के) लिये असमर्थ होता है।

वक्तव्य—वात, पित्त, कफ इन दोषों से दूषित जिनका शुक्र तथा आर्तव हो, कुणप—शवदुर्गन्धि, ग्रन्थि–ग्रन्थिल (गट्ठादार)

पूयसदृश, क्षीण शुक्र, मूत्र, पुरीषगन्धी। प्रजोत्पादन का सामर्थ्य शुक्र और आर्तव के भीतर रहनेवाले पुम्बीज और स्त्रीबीज पर है, तथा असामर्थ्य इनके दोषों के ऊपर निर्भर होते हैं। अध्याय के प्रथम श्लोक में "शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वः" से आत्मा को अवतीर्ण होने के लिये शुक्र और आर्तव की शुद्धि का विचार करते हैं[1]। रेत--शुक्र। अस्र--आर्तव (शोणित) यह बहिःपुष्प तथा अन्तःपुष्प भेद से दो प्रकार का होता है। सुश्रुत ने इन दोषों से युक्त पुरुषों को सन्तति उत्पन्न करने में असमर्थ बतलाये हैं,[2] किन्तु असामर्थ्य पुरुषों में न हो कर शुक्र में है। इसलिये हृदयकार का "बीजासमर्थ" पद अत्यन्त हृदयग्राही प्रतीत होता है। चरक ने भी शुक्र को गर्भ का बीजभूत स्पष्ट कहा है[3]। तथा वृद्ध वाग्भट ने भी "अबीजानि" से इसको अधिक स्पष्ट कर दिया है[4]। अमरकोष में बीज पर्याय नाम दिया है[5]।

स्त्रैलिङ्गैर्दोषजं वदेत् ॥ १० ॥
रक्तेन कुणपं, श्लेष्मवाताभ्यां ग्रन्थिसन्निभम्।
पूयाभं रक्तपित्ताभ्यां, क्षीणं मारुतपित्ततः ॥ ११ ॥
कृच्छ्राण्येतान्यसाध्यन्तु त्रिदोषं मूत्रविट्प्रभम्।

यहाँ पर दूषित शुक्र के भेद तथा लक्षण बतलाये हैं। शुक्र के वातदूषित, पित्तदूषित, श्लेष्मदूषित, कुणपगन्धि, ग्रन्थियुक्त, पूयसदृश,

---

१ शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वः स्वकर्मक्लेशचोदितः। गर्भः सम्पद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ। (अष्टाङ्ग हृदय शा० १ अ० श्लो० १)

२—वातपित्तश्लेष्मकुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति। (सु० शा० अ० २)

एवंभूतरेतसः पुरुषा गर्भोत्पत्तौ न क्षमा भवन्ति। (डह्लन)

३—बीजं यस्माद् व्यवायेषु हर्षयोनिसमुत्थितम। शुक्रं पौरुषमित्युक्तम्। (च० चि० अ० ३०)। यस्माद् बीजभूतं गर्भस्य शुक्रम्। (चक्रपाणि)

४—वात–पित्त–श्लेष्म–कुणपगन्धि–पूय–क्षीण–मूत्रपुरीषरेतांसि त्वबीजानि भवन्ति। (अ० सं० शा० अ० १)

५—शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवर्णेन्द्रियाणि च। (अमरकोष)

क्षीण तथा मूत्र–पुरीषगन्धि ये दोष कहे हैं। इनमें रक्त दोष से शुक्र कुणपगन्धि, कफ तथा वात से दूषित ग्रन्थि सदृश, रक्त और पित्त से दूषित शुक्र पूयसदृश, वायु और पित्त से दूषित शुक्र क्षीण तथा तीनों दोषों से दूषित शुक्र मूत्र और पुरीष सदृश (मूत्र–पुरीषगन्धि) होता है। इनमें कुणप, ग्रन्थि, पूय, क्षीणरेतस् कष्टसाध्य होते हैं तथा मूत्र एवं मलप्रभ शुक्र त्रिदोषज होने से असाध्य होता है।

वक्तव्य—स्वैर्लिङ्गैः—यथा जो शुक्र वात के वर्ण (श्याव–अरुण) तथा वेदनाओं से युक्त, फेनिल, तनु, स्निग्धतारहित, प्रमाण में अल्प तथा निसर्ग काल में पिच्छिल (थोड़ा--थोड़ा) पीड़ा के साथ तथा विलम्ब से निकलनेवाला हो उसको "वातदूषित" कहते हैं[1]। जो शुक्र पित्त के वर्ण तथा वेदनायुक्त कुछ नील या पीत वर्ण; स्वाभाविक से कुछ उष्ण, दुर्गन्धि, पिच्छिलता-रहित एवं निकलते समय मूत्र मार्ग में जलन करनेवाला हो उसको "पित्तदूषित" कहते हैं[2]। जो शुक्र निकलते समय मार्ग में कुछ रुकनेवाला अतिपिच्छिल, मज्जायुक्त, प्रमाण में अधिक तथा जल में डालने पर कुछ नीचे बैठ जावे उसको "श्लेष्मदूषित" कहते हैं[3]। कुणपगन्धि प्रमाण में अधिक होता है[4]। चरक में कुणपगन्धि नाम नहीं दिया है तथा ग्रन्थि सदृश को अवसादि नाम दिया है।

१–यथास्वं वातादीनां रूपैः। यथा—

फेनिलं तनु रूक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात्। भवत्युपहतं शुक्रं न तद् गर्भाय कल्पते। (च० चि० अ० ३०)

तेषु वातवर्णवेदनं वातेन। (सु० शा० २), तत्र तनु रूक्षं फेनिलमरुणमल्पं विच्छिन्नं सरुजं चिराच्च निषिच्यते वातेन। (अ० सं० शा० १)

२–सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च। दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम्। (चरक)। पित्तवर्णवेदनं पित्तेन (सुश्रुत)। किञ्चित्पीतमपिच्छिलमानीलं वा दहदिव प्रवर्तते पित्तेन। (अ० सं० शा० १)

३ श्लेष्मणा बद्धमार्गन्तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम्। (चरक) श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा (सुश्रुत)। मज्जोपसंसृष्टं प्रभूतं विबद्धं चाम्भसि च किञ्चिन्मज्जति श्लेष्मणा (अ० सं० शा० १)

४–कुणपगन्ध्यनल्पं च रक्तेन। (सुश्रुत)

मल-मूत्र—शुक्र आदि के वेगों को रोकने के कारण प्रकुपित वायु से शुक्र मार्ग के रुकने पर शुक्र कष्ट से आता है तथा ग्रन्थि सदृश होता है इसे "अवसादि" कहते हैं[1]। जब इस वीर्य में ग्रन्थिल भाग अधिक हो जाता है, तब अत्यन्त कठिनता से बाहर निकलता है, उस समय इनमें शुक्राणुओं के निश्चल हो जाने से गर्भाशय में प्रवेश करके स्त्री बीज के साथ मिल कर गर्भाधान के लिये असमर्थ होता है।

क्षीण शुक्र में—

दुर्बलता, मुँह सूखना, रक्ताल्पता, कार्य करने में असामर्थ्य, थकावट, क्लीबता, मैथुन काल में वीर्य का स्राव न होना, देरी से होना, अल्प होना, शुक्र के साथ थोडा रक्त भी आना, शिश्नेन्द्रिय तथा अण्डकोष में पीडा तथा शिश्न में धुवाँ उठता हो ऐसा प्रतीत होना, ये लक्षण होते हैं[2]।

क्षीण शुक्र में—रक्त कैसे आता है इसका विचार चरकादि ने इस तरह किया है, "शुक्र क्षय के कारण वायु के प्रकुपित होने पर रक्तवहा धमनी में प्रवेश कर शुक्र-पथ से वीर्य के साथ रक्त का भी स्राव होता है[3]। (च०)

१-वेगसन्धारणाच्छुक्रं वायुना विहते पथि। कृच्छ्रेण याति ग्रथितमवसादि। (चरक० ३०)

विण्मूत्रशुक्रादिवेगसन्धारणात् कुपितेन वायुना शुक्रसरणपथे विहते सति शुक्रं ग्रथितं भवेत् कृच्छ्रेण निर्गति तदवसादि शुक्रम्। (गंगाधर)

ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्याम्। (सुश्रुत)

२-दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुता सदनं श्रमः। क्लैब्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम्॥ (च० सू० अ० १७)

शुक्रे चिरात् प्रसिच्येत, शुक्रं शोणितमेव वातोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्रं धूमायतीव च। (अ० हृ० सू० ११ अ०)

शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद् वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तदर्शनम्। (सु० सू० अ० १५)

३-क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि...मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्तते (अतिमात्रोपक्षीणरेतस्त्वात्) तथाऽस्य वायुर्व्यायच्छमानस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यवयति। तच्छुक्रक्षयादस्य पुनः शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते वातानुसृतलिङ्गम्। (च० नि० ६)

शुक्र क्षयावस्था में—वायु के प्रकुपित होने पर तथा हर्ष का उद्रेक विशेष होने पर रक्तस्राव होता है[१]। (चक्र०)

श्यामं—रक्तपित्त से। सुश्रुत ने पूतिपूयनिभ श्लेष्म और पित्त से बताया है[२]। चरक ने केवल पित्त से। यहाँ पर रक्त और पित्त से। अब विचारणीय यह है कि—पूय क्या वस्तु है—साधारणतः शोथ की जगह में पाक विधि से जो तरल पदार्थ उत्पन्न होता है, उसको पूय "पस" कहते हैं। पूय में करीब ६० प्रतिशत जल भाग होता है, इसकी गुरुता १०३० तथा प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इसमें एक विशेष प्रकार की गन्ध आती है, इसका रंग प्रायः हल्का—पीला होता है। पूय अधिकांश रक्त से बनता है। आयुर्वेद में पूयोत्पत्ति के सम्बन्ध में दो मत मिलते हैं। (१) कफ से और (२) रक्त से पूय बनता है[३]। भानुमतीकार ने पूय शब्द के विशेष परिचय में—पित्तोष्मा से दग्ध रक्त को ही पूय बतलाया है[४]। पूय का तरल भाग रक्त रस से ही बनता है। इसलिये वाग्भट मत भी प्रशस्त प्रतीत होता है।

कुर्याद् वातादिभिर्दुष्टे स्वौषधम्—

वातादि दोषों से दूषित शुक्र और आर्तव दोषों को अपनी-अपनी दोष साधन चिकित्सा से शान्त करना चाहिये।

वक्तव्य—स्वौषध-स्व-अपने दोष। जैसे कुपित वात के प्रशमनार्थ स्निग्ध, उष्ण, अम्ल, लवणादि रस प्रधान औषध तथा अन्नों से। पित्त

१—शुक्रक्षयेऽपि प्रकुपितेन वायुना हर्षोदीरितेन च...शोणितं प्रवर्तते। (भानुमत्यां चक्रपाणिः।)

२—पूतिपूयनिभं श्लेष्म-पित्ताभ्याम्। (सुश्रुत) पित्तश्लेष्मभ्यां यद् दूषितं तत् शटितपूयसदृशं भवति। (डल्हन)

३—कफाच्च पूयः।...पचत्यतः शोणितमेव पाकः। (सुश्रुत)

पूर्वदर्शने कफात्पूयः। अत्र दर्शने शोणितात् पूयः। (मधुकोष)

४—द्रव्याणां चन्दनादीनां दग्धानां श्वेतता यथा। तद्वत् पित्तोष्मणा दग्धं रक्तं पूयमिहोच्यते। (सुश्रुते भानुमती)

की मधुर, शीत, कषायादि से। कफ की—कटु-रूक्ष-कषायादि से चिकित्सा करे। अष्टाङ्ग संग्रह में वातादि दुष्ट शुक्र दोषों की चिकित्सा विशद रूप से शारीर प्रथमाध्याय में वर्णित है।

संक्षेप में वात, पित्त, कफ दोषों से दूषित शुक्र तथा आर्तव की अपनी-अपनी दोषसाधन चिकित्सा से शान्त करना चाहिए। गुह्ययोनि प्रतिषेध (अ० सं० ३० उ०) वर्णित चिकित्सा से शुक्र और आर्तव इन दोनों की चिकित्सा करें[1]। (अ० सं०)। आर्तव भी वातादि दोष दूषित होने पर गर्भोत्पादन में असमर्थ होता है। दोषों के वर्ण और वेदनाओं से उनकी परीक्षा करनी चाहिए। शुक्र के समान दूषित आर्तव के भी वातदूषित, पित्तदूषित, श्लेष्मदूषित, कुणपगन्धि, ग्रन्थि-सदृश, पूय सदृश, क्षीण और मूत्र-पुरीषगन्धि ये भेद होते हैं। इनमें कुणपगन्धि, ग्रन्थिसदृश, पूयसदृश और क्षीण कृच्छ्रसाध्य, मूत्र-पुरीषगन्धि असाध्य तथा शेष तीन साध्य हैं[2]। यहाँ "बीजासमर्थ" से बीज ग्रहण करने के लिए अयोग्य ऐसा अर्थ होता है, क्योंकि पुरुष शुक्र के सदृश आर्तव शोणित स्वाभाविक एवं दोष रहित हों तो गर्भाशय बीज ग्रहण करने के योग्य है, ऐसा ज्ञान हो सकता है, यदि दोषयुक्त हो तो वह गर्भ ग्रहण करने के अयोग्य होता है।

कुणपे पुनः।
धातकीपुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम्।
पाययेत् सर्पिरथवा विपक्वमसनादिभिः ॥ १३ ॥

१–तत्राद्यान्-त्रीन् शुक्रार्तवदोषान् यथास्वं दोषसाधनेन साधयेत्। गुह्ययोनिरोग-प्रतिषेधेन चोभयानपि च। (अ० सं० १ शा०)

२–आर्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः पृथग् द्वन्द्वैः समस्तैश्चोपसृष्टमबीजं भवति। तदपि दोषवर्णवेदनाभिर्विज्ञेयम्। तेषु कुणपग्रन्थि पूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषप्रकाशमसाध्यं, साध्यमन्यच्च। (सु० शा० अ० २)। आर्तवमपि शुक्रवद् दोषैरुपसृष्टमबीजमेव। तस्य लिङ्गं नाम च पूर्वं (शुक्र) वत्। तेषु कुणपग्रन्थिपूयक्षीणरेतांसि कृच्छ्रसाध्यानि) मूत्रपुरीषगन्धशुक्रार्तत्वमसाध्यं, शेषाणि साध्यानि। (अ० सं० शा० १ अ०,

पलाशभस्माश्मभिदा ग्रन्थ्याभे—

कुणपगन्धि शुक्र विकार में धातकी पुष्प (धाय), खदिर, दाड़िम और अर्जुन इन से साधित घृत रोगी को पिलावे। अथवा असनादि-गणोक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत पिलावे।

वक्तव्य—धातकीपुष्पादि के कल्क तथा क्वाथ से साधित घृत[1]। चक्रपाणि के मत में यह घृत कल्क से ही करना चाहिए। चरक चिकित्सा स्थान तृतीय-अध्याय में "पिप्पल्यादि घृत" की टीका में विस्तृत वर्णन करके चतुर्गुण जल दे कर केवल कल्क मात्र से ही घृत सिद्ध करने का विधान बतलाया है[2]।

निर्माण—धातक्यादि घृत के लिए घृत ४ सेर, जल १६ सेर, तथा कल्क १ सेर लेना चाहिए।

ग्रन्थि सदृश शुक्र में पलाश (ढाक) की भस्म और पाषाणभेद से सिद्ध घृत का पान करावें।

वक्तव्य—पलाश क्षारोदक में सिद्ध घृत[3]।

विधि—पलाश भस्म को षड्गुणित जल में पका कर चतुर्थांश शेष रख कर सात बार (किसी-किसी के मत में इक्कीस बार) परिस्रुत करने से क्षारोदक निष्पन्न होता है।

तंत्रान्तरों में क्षार साध्य स्नेह सिद्धि के लिये यह लक्षण लिखे हैं—अर्थात्, जब क्षार जल से किसी स्नेह का पाक किया जाता है, तब उसमें फेन (झाग) उठते हैं तथा वह फटे हुए दूध के समान हो

१–धातक्यादेः कल्कक्वाथाभ्यां साधितम्। (डल्हन)

२–यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणस्य स्नेहसंविधौ। तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिभिः।
तस्मात् कल्कमात्रेण पिप्पल्यादि द्रव्यं जलञ्च चतुर्गुणं देयम्।
एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम्। (चरक)

३–पलाशभस्माढकं षड्भिः सलिलाढकैः क्वथितं पादशेषं सप्तकृत्वः परिस्रुत-माढकशेषं प्रस्थघृतं पाकाय प्रयोज्यम्। (डल्हन)

जाते हैं[१] । बाद में घृत पाक करना चाहिए । पलाश घृत का चरक रक्त-गुल्म चिकित्सा में वर्णन हुआ है ।

पूयरेतसि

परूषकवटादिभ्याम्—

पूययुक्त शुक्र दोष में परूषकादि तथा वटादि गण से सिद्ध घृत का पान करावें ।

अध्याय ५० में वाजीकरण एवं अपत्यप्रद योगों के प्रयोग करने के पूर्व स्नेहनादि तथा निरूह एवं अनुवासनबस्ति देने का विधान बतलाया है । अर्थात् सर्वथा शरीर शुद्ध करके ही बस्ति देनी चाहिए । चरक ने भी शुक्रार्तव दोषों के लिये बस्ति कर्म का विशेष विधान बतलाया है[२] ।

शार्ङ्गधर ने तो शुक्रार्तव विकारों के लिये उत्तरबस्ति का प्रधान आदेश दिया है[३] । सुश्रुत के मत से तो उत्तरबस्ति बहुत ही प्रभावशाली चिकित्सा है, उन्होंने मुक्तकण्ठ से कहा है कि—

"दूषित शुक्र तथा आर्तव स्त्रियोंके पुष्पोद्रेक तथा उसका नाश एवं मूत्राघात, प्रवृद्ध मूत्रदोष, योनिरोग, अपरा सम्बन्धी विकृति, शुक्रोत्सेक, शर्करा, अश्मरी, वंक्षण एवं शिश्नेन्द्रिय तथा बस्ति में शूल, अन्य भयंकर बस्ति सम्बन्धी रोगों को उत्तरबस्ति नष्ट करती है[४] ।

१-यस्मिन्नवसरे क्षारतोयसाध्यघृतादिषु । फेनोद्गमस्य निर्वृत्तिः, नष्टदग्धसमाकृतिः स एव तस्य पाकस्य कालेनैतरलक्षणः ।-तंत्रान्तरवचनम् ।

२—प्रशस्ताः शुक्रदोषेषु बस्तिकर्म विशेषतः । (च० चि० ३०)

३—बस्तिः शुक्ररुजः पुंसां स्त्रीणामार्तवजां रुजम् । हन्यादुत्तरबस्तिस्तु । (शार्ङ्गधर तृ० खं० ७ अ०)

४ शुक्रं दुष्टं शोणितं चाङ्गनानाम्, पुष्पोद्रेकं तस्य नाशं च कष्टम् । मूत्रघातान् मूत्रदोषान् प्रवृद्धान्, योनिव्याधिं संस्थितिं चापरायाः । (सु० चि० ३७) शुक्रोत्सेकं शर्करां चाश्मरीञ्च, शूलं बस्तौ वंक्षणे मेहने च । घोरानन्यान् बस्तिजांश्चापिरोगान्, हित्वा मेहानुत्तरो हन्ति बस्तिः । (सु० चि० ३७ अ०)

संशुद्धो विट्प्रभे सर्पिर्हिङ्गुसेव्यादि(ग्नि)साधितम् ।
पिबेत्...

मल–मूत्रसम या गन्धी शुक्र दोष की चिकित्सा के लिये हिंगु, खस (उशीर) चित्रक से साधित घृत रोगी को पिलावें ।

वक्तव्य—विट्प्रभ-विण्मलसदृशरेतस् । (अरु०) किन्तु यह अर्थ विचारणीय है[1], क्योंकि "विट्प्रभे" इसका मूत्र-पुरीष सदृश ही अर्थ युक्तिसङ्गत है । डल्हन ने भी मूत्र-पुरीष प्रकाश ही अर्थ करके यह लिखा है कि विट् ग्रहण से पुरीष और मूत्र दोनों का ग्रहण होता है, क्योंकि "विट्शब्द मलमूत्र-वाचक" होता है । संग्रहकार ने भी "मूत्र-पुरीषरेतसि वायुनाऽतिविकृते" इससे इसी का समर्थन किया है । यद्यपि विट्प्रभ शुक्रदोष असाध्य बतलाया है, इसकी चिकित्सा के लिये इन्दु लिखते हैं, "मूत्र पुरीषरेत में अत्यन्त दूषित अवस्था न होने पर ही चिकित्सा करनी चाहिए, अतिदुष्टि में उपेक्षा करें[2] ।

ग्रन्थ्यार्तवे पाठा व्योष वृक्षकजं जलम् ॥ १५ ॥
पेयं कुणपपूयास्रे चन्दनं वक्ष्यते तु यत् ।
गुह्यरोगे च तत्सर्वं कार्यं सोत्तरबस्तिकम् ॥ १६ ॥

ग्रन्थिभूत आर्तव में पाठा, व्योष (सोंठ, मिरच और पीपल) तथा कुटज इनका क्वाथ पीवें । कुणप तथा पूयास्र में चन्दन का क्वाथ पीवें, गुह्यरोग में जो चिकित्सा वर्णित है वह करें तथा उत्तरबस्ति का प्रयोग करें । यद्यपि कषाय और लेप के कार्य में रक्तचन्दन का विधान है अतः यहाँ पर भी काथ का प्रयोग होने से रक्त चन्दन ही लेना चाहिए[3] । किन्तु डल्हन ने लिखा है कि श्वेतचन्दन ही लेना चाहिए,

---

१—विट्प्रभे मूत्रपुरीषप्रकाशे रेतसि । विट्ग्रहणेनात्र पुरीषं मूत्रं च गृह्यते, मल-मूत्रवाचकत्वाद् विट्शब्दस्य । (सु० शा० २ डल्हन)

२—मूत्रपुरीषरेतसि नातिदुष्टे चिकित्सा, अतिदुष्टे उपेक्षा । (इंदु)

३—कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम् । (शार्ङ्ग०)

रक्त चन्दन नहीं, क्योंकि इस बीमारी में दुर्गन्ध बहुत होती है, इसलिये दुर्गन्ध दूर करने की शक्ति श्वेत चन्दन में है, रक्त चन्दन में नहीं है[१]। अतः कुणपादि असाध्य होने पर भी दुर्गन्ध दूर करने के लिये ही चिकित्सा वर्णन की है, सर्वथा सिद्धि के लिये नहीं[२]। यह साधारण नियम है कि "असाध्य व्याधियों की चिकित्सा नहीं होती है[३]। यहाँ यह ध्यान देने का है कि पञ्चकर्मों में स्वेदन कर्म का प्रयोग नहीं किया है, क्योंकि शुक्र सौम्य गुणवाला है तथा स्वेदकर्म उष्ण गुणवाला होने से विरोध न हो। इसलिये स्वेदन का विधान नहीं किया है। यद्यपि इन्दु ने यह चिकित्सा सब शुक्र दोषों की ही बताई है, किन्तु ग्रन्थ का पूर्वापर सन्दर्भ देखते "कुर्याद्वातादिभिर्दुष्टे स्वौषधम्" के आधार पर यह चिकित्सा कुणपादि शुक्र दोषों की ही होनी चाहिए। वातादि प्रवृद्धावस्था में इनका भी प्रयोग कर सकते हैं।

वक्तव्य—परूषकादि तथा वटादि गणों का वर्णन सूत्रस्थान १५ अध्याय में हुआ है।

क्षीणे शुक्रकरी क्रिया ॥ १४ ॥

क्षीण शुक्र में शुक्रल (शुक्रवर्द्धक) चिकित्सा करें।

वक्तव्य—आयुर्वेद में क्षीण शब्द का अर्थ है, "अपने प्राकृत परिणाम में जब दोष और दूष्य न्यून हो जाते है, उस समय उनके

१—चन्दनं (गोशीर्षाख्यं चन्दनं) न तु रक्तचन्दनं, तस्य हि गन्धापहरणशक्तेरभावात्। (डह्लन)

२—अत्र कुणपादीनां पञ्चनामसाध्यानामपि दुर्गन्धापनयानर्थं चिकित्सितं प्रतिपादितम्। (इन्दु)

३—साधनं नत्वसाध्यानां व्याधीनां चोपदेक्ष्यते। (चरक)

विण्मूत्राभेऽसाध्येऽपि दुःखकारि विट्गन्धापनयनार्थं चित्रकादिभिः कल्कीकृतैः, घृतं पेयं नतु सर्वथा सिद्ध्यर्थं, "असाध्यो नैति साध्यत्वम्" इति वचनात्। (डह्लन)

शुक्रं सौम्यम्। (सुश्रुत)

तत्राद्यान् शुक्रार्तवदोषान् यथास्वं दोषसाधनेन साधयेत्। (अ० सं०)

स्वाभाविक गुण–कर्म की हानि हो जाती है अथवा इनके विरुद्ध गुण–कर्मों की वृद्धि हो जाती है, यह प्रकृत में क्षीण का सामान्य लक्षण है[1], इसलिये इन सबके लिये एक ही चिकित्सा सूत्र है कि "स्वयोनि-वर्द्धक द्रव्य तथा कर्म का" उपयोग करना[2]।

चरक का यह सामान्य सिद्धान्त है कि "शरीर धातुएँ समान गुण या समान गुण बहुल आहार विहारों के अभ्यास से बढ़ती हैं, तथा विरुद्ध गुण अथवा विरुद्ध गुण बहुल आहारविहार के अभ्यास से घटती हैं[3]। इसी आधार पर क्षीण शुक्र की चिकित्सा में दूध तथा घृत का अधिक उपयोग करना चाहिए[4]।

इसी तरह अन्य मधुर, स्निग्ध एवं शीतल द्रव्यों का, शतावरी, मूसली, विदारीकन्द आदि मधुर, पिच्छिल, अविदाही, स्निग्ध, शीतल आदि बहुत गुणों से समान होने पर प्रयोग करना चाहिए।

यद्यपि जिस धातु की कमी हो उसकी पुष्टि के लिए उसी धातुका उपयोग करने के लिये आचार्यों की आज्ञा होने पर भी घृणा आदि कारणवश उसका उपयोग न कर सकें, तथापि द्रव्य वे ही होने चाहिए जिनके अधिक संख्यक गुण उस धातु से मिलते हों। इसलिये शुक्र के क्षीण होने पर शुक्र का ही उपयोग सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि भक्ष्य शुक्र

१––क्षीणा जहति स्वं लिङ्गम्। कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्।
(चरक)

२––स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः। (सुश्रुत)
स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः।

३––धावतः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासन्तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाऽभ्यस्यमानैः।
(चरक शा० अ० ६)

४––शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धसमाख्यातानां चापरेषामेव द्रव्याणाम्। (च० शा० ६)
शुक्रक्षये क्षीरघृतोपयोगो मधुरस्निग्धजीवनानां चान्येषामपि द्रव्याणामविदाहिनां प्रशस्यते। (वृ० वा०)

और वर्धनीय शुक्र के समतुल्य गुण हैं, अतएव चरक चिकित्सा स्थान में बस्ताण्डादि का प्राचुर्येण प्रयोग आया है। फिर भी घृणादि वश उनका प्रयोग न करें तो तत्सम गुणवर्धक द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए। यद्यपि दूध आदि विजातीय द्रव्य हैं, किन्तु शुक्र के गुणों से बहुत संख्या में मिलते हैं, इसलिये शुक्रवर्धक होने से आचार्य ने उपदेश किया है। शुक्र की शरीर में क्षीणता होने पर उसके बढ़ाने के लिये मनुष्य का मन कैसे आहारादि के लिये होता है इसका ऊहन विचार करते समय "मयूर-कुक्कुटाण्डानि हंससारसयोस्तथा। ग्राम्यानूपौदकानाञ्च शुक्रक्षीणोऽभि-कांक्षति" लिख कर अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण दिये हैं।

स्निग्धं वान्तं विरिक्तञ्च निरूढमनुवासितम्।
योजयेच्छुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरबस्तिभिः ॥ १७ ॥

स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूह और अनुवासन से अच्छी तरह शुद्ध किये हुए शुक्र दोष पीड़ित रोगी को उत्तर बस्ति से संयुक्त करें। यह शुक्र दोष का सामान्य चिकित्सा सूत्र है।

वक्तव्य—स्नेहन से लेकर उत्तरबस्त्यन्त कर्मों के विधिवत् कर लेने से शरीर की अच्छी तरह शुद्धि हो जाती है। आचार्यों ने रसायन और वाजीकरण योगों के उपयोग करने के प्रथम यही आदेश दिया है कि—

"स्रोतों के शुद्ध होने से देह के मल-रहित होने पर जब पुरुष योग्य काल में वृष्य आहार करता है, तब उससे उसका वीर्य और पुरुषत्व शक्ति अत्यन्त बढ़ जाती है, इसलिये वृष्य आहार एवं औषधप्रयोग के पहिले बलानुसार शरीर का स्नेहन, वमन, विरेचनादि द्वारा संशोधन करना चाहिये। जैसे मलिन वस्त्र पर रङ्ग ठीक नहीं चढ़ता, उसी तरह मलिन शरीर में प्रयोग किये हुए वृष्य योग भी कोई लाभ नहीं करते[1]।"

१—स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे वृष्यं यदा ना मितमत्ति काले। वृषायते तेन परं मनुष्यस्तद् बृंहणं चैव बलप्रदञ्च। तस्मात्पुरा शोधनमेव कार्यं बलानुरूपं नहि वृष्य-योगाः। सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः।

(चरक चि० २० अ०)

उत्तरबस्ति—निरूहबस्ति कर्म करने के बाद गुदा द्वारा या उत्तर मार्ग–मूत्रमार्ग द्वारा तथा स्त्रियों में अपत्यपथ द्वारा दी जाती है[1]। वृद्ध वाग्भट में भी उत्तर स्थान।

शुक्रं शुक्लं गुरु स्निग्धं मधुरं बहलं बहु।
घृतमाक्षिकतैलाभं सद्गर्भाय.........

शुद्ध शुक्र—श्वेतवर्ण, गुरु, स्निग्ध, मधुर, बहल, (गाढा) तथा प्रमाण में अधिक होता है। इसका वर्ण घृत, मधु तथा तैल के समान होता है। यह वीर्य गर्भ के लिए उत्तम है।

वक्तव्य—शुक्र दूधिया रंग का गाढ़ा, लेसदार क्षारीय प्रतिक्रिया-युक्त द्रव पदार्थ है। यह शुक्रग्रन्थियों, शुक्रप्रणाली, शुक्राशय, अष्ठीला-ग्रन्थि तथा शिश्नमूल ग्रन्थियों के मिश्रण से बनता है। इसी को तेज–रेत, बीज और वीर्य कहते हैं[2]। आचार्य ने इसका इस तरह वर्णन किया है—

"स्निग्ध, घन, किञ्चित् पिच्छिल, मधुर रस वाला, मधु के समान गन्ध वाला, श्वेत स्फटिक के समान वर्णवाला, शुक्र शुद्ध होता है।[3] (च) स्फटिक समान श्वेत, स्निग्ध, मधुर और मधुगन्धि, द्रव को शुक्र कहते हैं[4]। कई आचार्य तैल और मधु के समान को भी शुद्ध शुक्र कहते हैं[4] (सु) शुक्र सौम्य (सोम–जलगुण प्रधान) तथा स्निग्धादि गुणयुक्त, शुद्ध वीर्य होता है। यह गर्भोत्पादन के लिए समर्थ होता है।[5] (वृ० वा०)।

१—स निरूहादुत्तरमुत्तरमार्गेण वा दीयत इत्युत्तरबस्तिः। (अ० सं० सू० २५)

२—शुक्रं तेजोरेतसी च बीजं वीर्येन्द्रियाणि च। (अमरः)

३—स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं मधुगन्धि च। रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम्। (च. चि. अ. ३०)

पिच्छिलमिति ईषत् पिच्छिलं, पिच्छिलस्य दोषतयोक्तेः। अपिच्छिलस्य च शुष्कत्वेनोक्तेः। (गंगाधर)

४—स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च। शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैल-क्षौद्रनिभं तथा। (सु. शा. २)

५--तत् सौम्यं स्निग्धं, गुरु, शुक्लं, मधुगन्धि, मधुरं, पिच्छिलं, बहु, घृत-तैल-क्षौद्रान्यतमवर्णं च शुक्रं गर्भाधानयोग्यं भवति। (वृ. वा. शा. अ. १)

यहाँ मधुर शब्द मधुर रस का बोधक नहीं है, किन्तु प्रतिक्रिया का द्योतक है। चरक संहितास्थान अ० २४ में मद्याधिक पानजन्य अन्तर्दाह ज्वरादि की शान्तिके लिए पुनः मद्यपान का चिकित्सा सूत्र निर्देश करते हुए क्षार अम्ल के साथ मिलने पर मधुरता को प्राप्त हो जाता है—

"क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः।"

इसकी व्याख्या में गंगाधर कहते हैं "क्षारतां गतः अन्नरसः पुनरम्लेन मद्येन माधुर्यं गच्छति हि यस्मात् क्षारो भावः खल्वम्लोपसंहितः शीघ्रं माधुर्यं याति।" इति। अर्थात्—यहाँ पर मधुर शब्द न तो मधुर क्रिया वाला तथा न अम्ल क्रिया वाला, न क्षार क्रियायुक्त है, किन्तु उदासीन क्रियायुक्त है।

शुक्र की उत्पत्ति

अच्छी तरह परिवर्तित आहार का धात्वग्नियों के परिपाक द्वारा मज्जा में पहुँच जाने पर जो सार भाग (प्रसाद रूप) होता है, उसको शुक्र कहते हैं।[१] इस क्रम से क्रमशः मज्जा का पचन होने से अक्षिमल तथा त्वचा का स्नेहमल स्वरूप निकलता है। इसमें स्थूल भाग मज्जा है, सूक्ष्म भाग शुक्र होता है। शुक्र का पचन होने पर भी मल भाग नहीं होता है, इसमें स्थूल भाग शुक्र होता है, तथा सार भाग ओज होता है। यद्यपि अष्टाङ्ग हृदय में ओज को शुक्र का मल माना है[२], किन्तु डल्हन ने स्पष्टीकरण किया है कि—"मज्जा के अग्नियों के पच्यमान होने पर नयन पुरीष तथा त्वचाओं का स्नेह मल भाग है, स्थूल भाग मज्जा, सूक्ष्म भाग शुक्र, पुनः परिपाक होने पर मल उत्पन्न नहीं होता है।

१—तत्राहारस्य सम्यक् परिणतस्य क्रमान्मज्जानमनुप्राप्तस्य सारः शुक्रसंज्ञां लभते। (वृ. वा.) मज्ज्ञः शुक्रन्तु जायते। (सु. सू. १४)

२—कफः, पित्तं, मलः, खेषु प्रस्वेदो नखरोम च।
स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः। (अ. हृदय शा. ३ अ.)

सहस्रवार तपाये हुए सुवर्ण की तरह। अतः स्थूल भाग शुक्र ही है, स्नेह भाग तेजोभूत सूक्ष्म ओज होता है"।[1]

सुश्रुत तथा वाग्भट के मत से शुक्र की उत्पत्ति में एक मास की अवधि होती है, आहार रस से धातु रस एक ही दिन में उत्पन्न होता है, उसके बाद प्रत्येक धातु के लिये पांच–पांच दिन की आवश्यकता होती है। शरीर के भीतर इन धातुओं की उत्पत्ति अदृश्य होने के कारण इस विषय में कई मतभेद हैं। कई आचार्य आहार रस से रसादि धातुओं की उत्पत्ति मानते हैं, कई ६ दिनों में मानते हैं, कुछ ७ तथा ९ दिन में मानते हैं।[2]

पराशर के मत से

आज जो आहार किया गया है वह कल रसत्व को प्राप्त होता है, इस तरह क्रमशः तृतीय दिन शोणितावस्था, चतुर्थ दिन मांसता, पञ्चम दिन मेद भाव, षष्ठ दिन अस्थित्व. सप्तम दिन मज्जा, अष्टम दिन शुक्र। इस तरह सप्तरात्र से ये धातुएँ उत्पन्न होती हैं, तथा पथ्यापथ्य एवं आहारवश शुद्ध भी होती हैं तथा दूषित भी होती हैं।[3]

१—न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः। मज्ज्ञः पावकपच्यमानान्मलो नयन-पुरीषत्वचां स्नेहः, स्थूलभागो मज्जा, सूक्ष्मः शुक्रम्, ततः पुनः पच्यमानादुपमलो नोत्पद्यते सहस्रधाध्मातसुवर्णवत्, स्थूलो भागः शुक्रमेव, स्नेहभागः सूक्ष्मस्तेजोभूतमोजः।

(डह्लण) सू. १४।

मासेन रसः शुक्रीभवति। (सु. सू. १४)

२—केचिदाहुरहोरात्रात् षडहादपरे परे।
मासेन याति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिभिः। (वाग्भट शा. ३ अ.)
षड्भिः केचिदहोरात्रैः केचित् सप्तभिरेव च।
इच्छन्ति मुनयः प्रायो रसस्य परिवर्त्तनम्। (चरक चि. अ. १५)

३—आहारोऽद्यतनो यश्च श्वो रसत्वं च गच्छति।
शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे मांसतामपि।
मेदस्त्वं पञ्चमे, षष्ठे त्वस्थित्वं, सप्तमे त्वियात्।
मज्जतां, शुक्रतामेति दिवसे त्वष्टमे नृणाम्।
तस्माद्धि पथ्यापथ्याभ्यामाहाराभ्यां नृणां ध्रुवम्। (भानुमती पराशरश्च)

नव्यमत

रसादि धातुओं की उत्पत्ति के लिए कोई निश्चितकाल का निर्देश नहीं है। प्रतिदिन आवश्यकतानुसार शरीर में सभी धातुओं की उत्पत्ति होती रहती है। यह मत चक्रपाणि के मत के साथ समन्वय रखता है—तद्यथा—देह में धातुपरिवर्तन अविश्रान्त रूप से होता रहता है। "चक्रवत्" इस उदाहरण से धातु परिवृत्तियों में काल का विशेष नियम नहीं है। जैसे चंचल पुरुष कूप से जल निकाले तो, उनकी बाहु में बल के अधिक होने से चक्र में शीघ्र चक्कर दिए जाने से जल को शीघ्र निकालेगा। यदि वह पुरुष जिसकी भुजा में बल नहीं है और जल निकाले तो देर से निकाल सकेगा। वैसे ही यदि देह में अग्निबल अधिक होगा तो धातु-परिवर्तन शीघ्र होगा, यदि अग्निबल आदि मन्द होगा तो धातु-परिवर्तन देर से होगा।[1]

सुश्रुतने भी इस मत को शब्दसन्तान, अर्चिःसन्तान, एवं जल-सन्तान रूप से तीन दृष्टान्त दिये हैं, अर्थात् शब्दसन्तान के सदृश मध्यम अग्निवाले पुरुषों में ६ दिन में तथा अर्चिःसन्तान के सदृश तीक्ष्णाग्नि पुरुषों में एक दिन में और जलसन्तान के सदृश मन्दाग्नि पुरुषों में १ मास में रस की गति होती है। अतः इसी क्रम से शुक्र की उत्पत्ति होती है।[2]

शुक्र का स्थान

आयुर्वेद में शुक्र सर्व शरीर व्यापी है तथा शुक्र के लिए शरीर में कोई निश्चित स्थान नहीं है, इस विषय में कुछ वचन भी मिलते हैं

१—सप्तरात्रेण शुध्यन्ति प्रदुष्यन्ति च धातवः। (पाराशर) सन्तत्याभोज्य-धातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्। (चरक) भोज्ये उपयुक्ते सति धातूनां रसादीनां चक्रवत परिवृत्तिर्भवति। अविश्रान्ता समुत्पत्तिर्धातूनां भवति, चक्रदृष्टान्तेन तु परिवृत्तिः काला नियमं दर्शयति। (चर. चि. १५, चक्रपाणिटीका श्लो. २१)

२—स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलं। (सुश्रुत १४ सू०)

तथा सर्व शरीर व्यापी होने से शरीर के विविध अवयवों के काटने पर भी शुक्र दिखाई नहीं देता है। किन्तु समस्त शरीर में व्याप्त रहना यह शुक्र का लक्षण प्रसिद्ध है। जैसे दूध में घृत सर्वत्र रहता है। इक्षु में जिस तरह गुड़ रहता है, उसी तरह पुरुषों के शरीर में शुक्र रहता है। चरक ने इक्षु में मधुर रस, दधि में घृत, तिलों में तैल का उदाहरण दिया है।

इसी तरह विदेह ने भी शुक्र को सर्वशरीरगत बताया है। किन्तु प्रत्यक्ष शरीर की दृष्टि से शुक्र की उत्पत्ति तथा स्थिति में जो-जो शरीर के अवयव भाग लेते हैं, उसका विशद वर्णन भी आयुर्वेद-संहिताओं में मिल रहा है।[1]

बाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था में शुक्र की उत्पत्ति नहीं होने से बालक तथा वृद्ध की शवच्छेदन–क्रिया करने पर भी शुक्र नहीं मिलता है। युवावस्था में शुक्र होने पर भी परिमाण में १॥ तोला करीब ही होने से शवच्छेदन करने पर भी अत्यन्त अल्प राशि में होने से उसका मिलन तथा प्रत्यक्ष ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। इन अवस्थाओं में शुक्र का

१—यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षुरसे यथा।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्यात् भिषग्वरः। (सु. शा. अ. ४)
रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा। (चरक)
विशस्तेष्वपि देहेषु यथा शुक्रं न दृश्यते।
सर्वदेहाश्रितत्वात्... (सु. नि. अ. १०)
शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं वृषणौ (सु. शा. ६)
शुक्र वहे द्वे, शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय। (सु. शा. ६)
शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च। (च. वि. ५)
विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम्।
बस्तौ संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नमिवोदकम्। (च. चि. १५)
तत्र स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टा-संकल्पपीडनात्।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज् जलमार्द्रात् पटादिव। (च. चि. २ पा. ४)
वीर्यवाहिसिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ। (शा. पू. ५)

मिलना तथा शुक्र का दृष्टिगोचर न होने से "शुक्रस्थानासम्भवात्" ऐसा प्रचार हो गया।

वस्तुतः शुक्र का स्थान अष्टाङ्ग संग्रह कार ने मज्जामुष्कादि माने हैं। म. म. क. स्व. श्री गणनाथसेन सरस्वती जी ने "शुक्र का प्रभव-स्थान अण्डकोष" माना है। एवं सर्वव्यापी शुक्र से "शुक्रसार" माना है। इसके प्रभाव से पुंस्त्व व्यञ्जक दाढी, मूंछ आदि बाह्य चिह्न तथा शरीर की वृद्धि हुआ करती है"।[1]

शुक्र के कार्यों में—धीरता, प्रसन्नता, शरीर में बल (उत्साह, पुष्टि, काम की प्रबलता) के साथ गर्भोत्पत्ति के लिये बीज "स्पर्मेटोजोआ" के प्रधान कार्य सभी आचार्यों ने माने हैं।

नवीन मत से

शुक्र में असंख्य जीव दिखलाई देते हैं, इसकी परीक्षा सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र द्वारा की जाती है। इन्हें शुक्राणु या "स्पर्मेटोजोआ" कहते हैं। इनकी उत्पत्ति अण्ड-ग्रन्थियों में होती है, इन्हीं के आधार पर गर्भ धारण का निर्भर रहता है। इन्हीं बीज भागों को शुक्र पुष्ट करता है। एक बार के निकले हुए शुक्र में जीवाणुओं की संख्या २० बीस करोड से भी अधिक होती है। प्रत्येक शुक्राणु के तीन अवयव होते हैं:- १ मुण्ड, २ मध्य, ३ पुच्छ। इनकी लम्बाई १।१००० से १५००० इञ्च तक होती है। सबल शुक्र ही स्त्री बीज (Ovum) से मिलकर गर्भ धारण करता है।

इस मत की पुष्टि इन वचनों से भी हो जाती है—

"शुक्र वह वस्तु है, जो गर्भोत्पत्ति के लिये पुरुष द्वारा स्त्री की योनि में आधीन की जाती है, उसे विद्वान् लोग शुक्र कहते हैं"। यह

१—"यथा पयसि सर्पि" रित्याद्यभिधानं तु सर्वशरीरपरं सूक्ष्मतरं शुक्रसारं लक्षयति—यस्मात् पुंस्त्वव्यंजकश्मश्रुपौरुषाकृतिविशेषाः संभवन्ति। तदेवं शुक्रद्वैविध्ये सिद्धे सूक्ष्मतरं शुक्रमभिप्रेत्य "यथा पयसि सर्पिः" इत्यादि प्राचां वचनं व्याख्येयम्।

(प्रा. शा.)

शुक्र, वायु, अग्नि, पृथिवी, जल-इन उत्तम-गुण युक्त चार पादों से युक्त है, तथा षड् रसों से इसकी उत्पत्ति होती है।[१]

आर्तवं पुनः ॥ १८ ॥

लाक्षारसशशास्राभं धौतं यच्च विरज्यते।

जो आर्तव लाख के रस के सदृश, तथा शश (खरगोश) के रक्त के समान (उज्ज्वल-लाल रंग) का हो और जिसमें भिगो कर सुखाये हुए वस्त्र को गरम जल से धोने पर वस्त्रों में जिसका दाग न रहे, उसको शुद्ध जानना चाहिए।

वक्तव्य—

स्त्रियों में रक्त ही एक मास में गर्भाशय में सञ्चित होकर प्रति मास पांच दिन अपान वायु से प्रेरित होकर कुछ काले रंग का योनि-मार्ग से बहता है, उसको आर्तव कहते हैं। "ऋतौ भवमार्तवम्" यह आर्तव पञ्चमहाभूतमय तथा अग्निगुण प्रधान उपधातु है[२]। इस श्लोक में आर्तव की उत्तमता का वर्णन किया है। इस उत्तमता का विचार निम्न आधारों से होता है—

१–जिस आर्तव का रंग शशक के रक्त, बीरबहूटी, लाक्षारस, गुंजाफल, रक्तकमल इनके सदृश हो, वस्त्र पर लगने पर जिसके दाग आसानी से धोये जा सकें उसको शुद्ध आर्तव कहते हैं।[३]

१—शुक्रं तदस्य प्रवदन्ति धीरा यद्धीयते गर्भसमुद्भवाय। वाय्वग्निभूम्यब्गुणपादवत्तत् षड्भ्यो रसेभ्यः प्रभवश्च तस्य। (च. शा. २)

२—आर्तवमाग्नेयम्, इतरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्ति, अणुना विशेषेण, परस्परोपकारात्, परस्परानुप्रवेशाच्च। (सु. शा. ३. ३.)

३—गुञ्जाफलसवर्णञ्च पद्मालक्तकसन्निभम्।
इन्द्रगोपप्रतीकाशमार्तवं शुद्धमादिशेत्।
मासान्निष्पिच्छदाहार्तिं पञ्चरात्रानुबन्धि च।
नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्। (च. चि. ३०)
शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्।
तदार्तवं प्रशंसन्ति, यद्वासो न विरञ्जयेत्। (सु. शा. २-१७)
आर्तवं पुनः शशरुधिरं लाक्षारसोपमं धौतं च विरज्यमानं शुद्धमाहुः। (वृ. वा. शा. १)

२—जो आर्तव एक मास के बाद उपस्थित हो, पिच्छिलता से रहित हो, दाह और पीडा से रहित हो, पांच दिन तक रहने वाला हो, मात्रा न बहुत अधिक न बहुत कम-हो उसको शुद्ध आर्त्तव कहते हैं। इन सब के आधार पर लाल वर्ण होता है। वास्तव में आर्तव का रंग लाल वर्ण न होकर कुछ कालापन लिये लाल रंग होना ही माना है।

नव्यम वालोंत ने भी—स्वाभाविक राशि से जब आर्तव शोणित निकलता है, तब उसका वर्ण लाल होता है, किन्तु यह शोणित सिरागत रक्त के समान किञ्चित् कृष्णवर्ण ही होता है। इसी अध्याय के २३ श्लोक में भी "ईषत्" ही बतलाया है।

स्वरूप—यह रज-श्लेष्मा-मिश्रित रक्त ही है, इसका स्राव गर्भाशय से होता है।

निर्माण—यह आर्तव रस जन्य पाञ्चभौतिक तथा आग्नेय है।

वर्ण—शश रक्त तथा लाक्षाक्वाथ सदृश। इस वर्ण भेद के विषय में चक्रपाणि कहते हैं कि "प्रकृति" (वातादि) भेदसे होता है।[1]

स्पर्श में—अत्यन्त पिच्छिल न हो कर श्लेष्मा के संयोग से सामान्य सचिक्कणता।

गन्ध में—विशिष्ट गन्ध या दुर्गन्धरहित।

लक्षण में—जलन तथा पीडा से रहित।

परिमाण—५ तो० से २० तो० तक।

धौतं यच्च विरज्यते—इसका तात्पर्य यही है कि आर्तव-शोणित से मलिन वस्त्र जल से धोने पर निर्मल अर्थात् बेदाग हो जाना चाहिए।[2] जीवधारक शोणित की यही परीक्षा आचार्यों ने बतलाई है।[3]

१—गुञ्जाफलसवर्णमित्यादिना वर्णभेदश्चार्तवे प्रकृतिभेदादेव भवति। (चक्रपाणि)

२—यच्च धौतं सद् विरज्यते—वस्त्रादिलग्नं धौतं सत् लौहित्यं जहातीत्यर्थः। (अरुणदत्त) रागोपेत वस्त्रं न कुर्यात्। (डल्हण)

३—उभयत्र च जीवरक्तपित्तयोर्ज्ञानार्थं रक्ते शुक्लं पिचु प्लोतं वा क्षिपेत्। तस्मिन्नावने कोष्णाम्बुक्षालितशुद्धे जीवरक्तम्। (वृ. वा.)

नव्यमतवाले भी ऐसा ही मानते हैं।

स्राव का संगठन--आर्तवस्राव में रक्त के साथ गर्भाशय की श्लैष्मिक कला का स्राव या श्लेष्मा भी होता है। इसके अलावा गर्भाशय और योनि की विशीर्ण हुई सेलें भी होती हैं। श्लेष्मा का स्राव अधिकतर मासिक स्राव के पूर्व या पीछे हुआ करता है। रज का स्राव क्षार-प्रतिक्रिया वाला होता है। सामान्य रक्त और आर्तवरक्त में यही भेद होता है कि साधारण रक्त की अपेक्षा खटिक "सुधाराशि" प्रचुर प्रमाण में होता है। द्वितीय भेद यह है कि साधारण का संयोग रहता है।

शुद्धं शुक्रार्तवं स्वस्थं संरक्तं मिथुनं मिथः ॥ १९ ॥
स्नेहैः पुंसवनैः स्निग्धं शुद्धं शीलितबस्तिकम्।
नरं विशेषात् क्षीराज्यैर्मधुरौषधसंस्कृतैः ॥ २०॥
नारीं तैलेन माषैश्च पित्तलैः समुपाचरेत् ॥

शुद्ध शुक्र तथा शुद्ध आर्तवयुक्त तथा स्वस्थ परस्पर में प्रेम करने वाले गर्भाधान के लिए स्नेह (फलघृत, जीवनीयघृत आदि) पदार्थों से स्निग्ध होकर तथा वमन विरेचनादि से शुद्ध एवं बस्तियों का सेवन किये हुए स्त्री पुरुषों में विशेष करके पुरुषों को दुग्ध, घृत मिश्रित मधुरादि औषधियों से संस्कृत अन्नपान का सेवन करावे, तथा स्त्री को तैल तथा पित्तकारक माष (उडद) का प्रयोग करावे।

वक्तव्य—वृद्धवाग्भट में माष की जगह "मांस" का विधान किया है। इन्दु ने पित्तल होने से आनूप प्राणियों के मांस का निर्देश भी किया है।[१] सुश्रुत ने उडद ही लिये हैं।[२] इस श्लोक में गर्भोत्पत्ति के पूर्व काल में शुक्र तथा आर्तव की आप्यायन चिकित्सा का विधान

१—तैलेन नारी पित्तलैश्च मांसैः। (अ. सं.)
पित्तलानि मांसान्यानूपसत्वजानि। (इन्दु.)
२—तैलमाषोत्तराहाराम्। (सु. शा. २)

है। चरक ने भी माष का ही निर्देश किया है।[१] सुश्रुत ने स्त्री पुरुष को तैल तथा घृत से मर्दन करना भी लिखा है,[२] इसलिये पुरुष घृत का मर्दन करें तथा क्षीरघृत प्रधान आहार का सेवन करना चाहिए, क्योंकि "शुक्र सौम्य, श्वेतवर्ण, स्निग्ध, बल और पुष्टि का करनेवाला गर्भ का बीज, शरीर का सार पदार्थ तथा जीवात्मा का उत्तम प्रश्रय होता है" इसकी पुष्टि के लिये सौम्यादि गुण प्रधान तत्सम क्षीर घृतादि का उपयोग ही करना प्रशस्त है।[३] इसी तरह स्त्री तैल की मालिश करे तथा उडद वा पित्तकारक पदार्थों का अधिकता से सेवन करने से अग्निगुण युक्त आर्तव की पुष्टि एवं शुद्धि के लिये आग्नेय युक्त तैल माष प्रधान आहार का सेवन आवश्यक है।

बस्ति—आस्थापन तथा अनुवासन। चरक ने स्पष्ट लिखा है कि वमन विरेचन से संशुद्धि करते समय दुर्बलता हो जाने पर पेयादि-क्रम से प्रकृतिस्वस्थ (जातबलादि) होने पर ही आस्थापन, अनुवासन, बस्तिकर्म करना चाहिये।[४] शीलित—अभ्यस्त। मधुरौषधसंस्कृतैः—मधुर रस प्रधान या मधुर प्रभाव (जीवनीयादि) से साधित क्षीर घृतादि पित्तल-पित्तकारक। पित्तल द्रव्य-रक्त वृद्धिकारक होते हैं, क्योंकि यह सामान्य नियम है कि जो द्रव्य आश्रय की वृद्धि करता है, वह आश्रयी की भी वृद्धि करता है, तथा जो आश्रय को कम करता है। वह आश्रयी को भी कम करता है। इस आधार पर जो रक्त वृद्धि करता है, वह पित्तकारक भी होता है। इसलिए तैल माषादिक प्रयोग पित्तवर्द्धक गुण से निर्दिष्ट किये हैं।

१—स्त्रियन्तु तैलमाषाभ्याम्। (च. शा. ९)

२—सर्पिः स्निग्धः, तैलस्निग्धाम्। (सु. शा. २)

३—शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलपुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भ बीजं वपुःसारो जीवस्याश्रय उत्तमः। (भावप्रकाश)

४—संशुद्धौ चास्थापनानुवासनाभ्यामुपाचरेत्। (च. शा. ९)
आश्रयाश्रयिणां मिथः।
यदेकस्य तदन्यस्य वर्द्धनं क्षपणौषधम्। (अ. हृ. सू. ११-२६)

क्षामप्रसन्नवदनां स्फुरच्छ्रोणिपयोधराम् ।
स्रस्ताक्षिकुक्षिं पुंस्कामां विद्यादृतुमतीं स्त्रियम् ॥ २१ ॥

दुर्बलता लाने वाले कारणों के विना क्षाम (कृशता) प्रसन्न मुखवाली, श्रोणि तथा स्तनों में स्फुरण (कम्पन) नेत्र तथा कुक्षि (उदर) में शिथिलता का अनुभव और पुरुष की कामना वाली स्त्री को ऋतुमती जानना चाहिये ।

वक्तव्य—

पूर्व श्लोकों में समस्त सामग्रीयुक्त मिथुन से भी विशिष्ट काल के विना गर्भ की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये स्त्री के विषय को लेकर उस गर्भ-ग्रहण योग्य काल का दिग्-दर्शन कराने के लिए इस श्लोक में ऋतुमती अर्थात् गर्भ धारण करने योग्य पूर्ण वयस्क स्त्री के लक्षण बतलाए हैं—चरक ने जननेन्द्रिय की स्थिति के अनुसार ऋतुमती की व्याख्या इन शब्दों में की है "पुराने रज के निकल जाने पर नूतन रज के अवस्थित हो जाने पर शुद्ध होकर स्नान की हुई स्त्री को जिसकी योनि, शोणित तथा गर्भाशय निर्दुष्ट हो, उसे ऋतुमती कहते हैं ।[1]

सुश्रुत ने कुछ विशेष लक्षण लिखे हैं—

ऋतुमती स्त्री का मुख पुष्ट और प्रसन्न रहता है, उसका शरीर मुख तथा दन्त क्लेदयुक्त हो जाते हैं, वह पुरुष की इच्छा करती है तथा प्रेम कथानकों में मन लगाती है । जिसकी कुक्षि, नेत्र, बाल शिथिल हो रहे हों, जिसकी भुजा स्तन, श्रोणि, नाभि, उरु, गुह्याङ्ग और नितम्ब में स्फुरण होता हो एवं हर्ष तथा उत्सुकता से पुरुष की कामना करती हो उसे ऋतुमती कहते हैं ।[2]

१—गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धस्नातां स्त्रियं, अव्यापन्नयोनिशोणितगर्भाशयामृतुमतीमाचक्ष्महे । (च. शा. ४)

२—पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम् ।
नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्धजाम् ।
स्फुरद् भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचाम् ।
हर्षौत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति । (सु. शा. ३)

पद्मं संकोचमायाति दिनेऽतीते यथा तथा ॥ २२ ॥
ऋतावतीते योनिः, सा शुक्रं नातः प्रतीच्छति ॥

जिस तरह दिन के बीत जाने पर (रात्री हो जाने पर) कमल नियमित रूप से संकुचित हो जाया करता है, उसी तरह ऋतुकाल के बीत जाने पर स्त्री की योनि भी निश्चित रूप से संकुचित हो जाती है।

वक्तव्य—

इस श्लोक में गर्भाशय के द्वार बन्द हो जाने के समय का वर्णन है। अर्थात् ऋतुकाल में गर्भाशय का मुख विस्तृत रहता है। अतः उस समय योनि में गिरा हुआ शुक्र अन्तः प्रवेश करके गर्भ-धारण हो जाता है। ऋतु समय के बाद गर्भाशय संकुचित हो जाता है, इसलिये उस समय में योनि में गिरा हुआ वीर्य कठिनता से भीतर प्रवेश करता है। इसलिये प्रायः ऋतु काल में ही गर्भ-धारण होता है। ऋतु शब्द का अर्थ—रजोदर्शन से लेकर षोडश रात्रिपर्यन्त काल।[१] योनि—गर्भाशय द्वार। यहाँ पर दिन और ऋतु का सादृश्य कमल और योनि का सादृश्य। आर्तव काल में गर्भाशय विकसित रहता है। इसीलिये इसके आगे के श्लोक की टीका में लिखा है कि "योनिका विवृता-विवृत मुख ही गर्भ के ग्रहण तथा अग्रहण में कारण है, यह क्रियावान् काल सहायक वायु द्वारा होता है।"[२]

यहाँ पर योनि शब्द से गर्भाशय ग्रीवा लेनी चाहिये, क्योंकि ऋतुकाल में योनि अपावृत रूप में रहती है। जैसा चरक ने लिखा है "स्त्रियों में यही प्रतिकर्म (उत्तर बस्ति) आर्तव काल में दी जाती है, क्योंकि उस समय विवृत मुख गर्भाशय या योनि शीघ्र ही स्नेह को

१—ऋतौ—रजोदर्शनात् षोडशनिशात्मके काले। योनिरत्र धराद्वारम् योनिर्गर्भाशयः। (डह्लण) (भा० प्र०) शङ्खनाभ्याकृतियोनिः। (सुश्रुत)

ऋतुस्तु दृष्टार्तवो द्वादशरात्रं भवति। षोडशरात्रमित्यन्ये। (वृ. वा.)

२—विवृताविवृतमुखं हि योनेर्गर्भग्रहणाग्रहणहेतुः। तच्च वायोः क्रियावतः कालसहायस्यायत्तम्। (अरुणदत्त)

ग्रहण कर लेती है[1]। यही बात अष्टाङ्गहृदय[2] तथा संग्रह में लिखी है। अपावृत्ति—योनि का खुला रहना।

मासेनोपचितं रक्तं धमनीभ्यामृतौ पुनः ॥ २३ ॥
ईषत् कृष्णं विगन्धञ्च वायुर्योनिमुखान्नुदेत्।

अर्थ—दो धमनियों द्वारा एक मास तक इकट्ठा हुआ कुछ कृष्ण वर्ण तथा विकृत गन्धयुक्त आर्तव को अपान वायु[3] ऋतु समय पर योनि मुख से बहार प्रेरित करता है।

वक्तव्य—

इस श्लोक में आर्तव स्वरूप तथा आर्तव स्रवण युक्ति का वर्णन किया है। धमनीभ्याम्—रक्त को गर्भाशय में पहुँचानेवाली दो रक्तवाही धमनीयाँ होती हैं उनको गर्भाशय धमनी कहते हैं[4]। इनके द्वारा आर्तव की उत्पत्ति की व्यवस्था बीजकोष तथा गर्भाशय में होती हैं, इसलिये यहाँ पर धमनीशब्द से गर्भाशय और बीजकोष धमनी मानना चाहिये। उपचित—आहार रस से वृद्धि प्राप्त। ईषत् कृष्ण—प्रकृतिस्थ प्रेरक वायु के सम्पर्क से ईषत् कृष्णता। दूषित पवन के सम्बन्ध से अत्यन्त कृष्णता नहीं। विगन्ध—विस्र गन्ध रहित। इसमें दूषित पित्त संश्लिष्टता से विस्रगन्धित्व तथा कुपित श्लेष्मा से श्लेष्मवर्ण युक्त एवं वायु विकृति से अतीव कृष्णता न हो अर्थात् वातादि त्रितय के कोप से

१—स्त्रीणाञ्चार्तवकाले तु प्रतिकर्म तदाचरेत्।
गर्भासना सुखं स्नेहं तदादत्ते ह्यपावृता। (च. सि. ९)

२—स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृतेः। (वा. सू. १९)

ऋतुकाले यौवतस्य गर्भाशयं प्रत्यागमनाय गर्भाशयनाड्या मुखद्वारं विकसितं भवति। अतस्तद्द्वारा पौरुषस्यापि तन्नाड्यन्तःप्रवेशस्सुकरो भविष्यति बाहुल्येन स्त्रीपुंबीजयोरन्योन्यमेलनगर्भाशयनाड्यन्तर्मार्गे संभवतीति नवीनाः।
(अ. शारीरम्)

३—सृजत्यार्तवगर्भौ च (च० चि० २९) काले कर्षति चाप्ययम्।
(सु० नि० १)

४—नारीणामार्तवसंज्ञेद्वे आर्तववहे। (सु० शा० ६ अ०)
त एव नारीणामार्तवं वहतः। (अ० सं० शा० ६)

सर्वथा सम्पर्क न होने से शुद्ध विशिष्ट काल में योनिमुख से प्रवर्तमान रक्त की आर्तव संज्ञा होती है। यही रक्त ऋतु समय के बिना योनि मुख से प्रवर्तमान होने पर असृग्दर संज्ञा को प्राप्त होता है। सुश्रुत में "नुदेत्" का पाठान्तर "नयेत्" है[१], किन्तु अर्थ की दृष्टि से "नुदेत्" पाठ प्रशस्त होता है। "नुद प्रेरणे" धातु से यह शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ आर्तव को बाहर फेंकना अर्थ अभीष्ट है, यह "नुदेत्" शब्द से स्पष्ट हो जाता है "नयेत्" से नहीं। आर्तव-स्रुति का काल ही कारण होता है[२]। यह भी स्मरणीय है कि "अनृतावृतौ वा तदेवासृग्दरं प्रदरम्।" (अ० शा० १) इस सिद्धान्तानुसार ऋतु प्रवृत्त भी असृग्दर होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति चक्रपाणिदत्त इस प्रकार से करते हैं, "रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य इति रक्तं प्रमाणाधिकं कृत्वा रक्तमादाय तद्रजो यस्माद् विवर्धयति पवनस्तस्मादसृग्रजोमेलकरूपत्वादयं व्याधिरसृग्दर इत्युच्यते "असृग्दीर्यते यस्मिन्निति असृग्दर" इत्येवाऽपि निरुक्तिरत्र बोद्धव्या।" इसलिये ऋतु प्रवृत्त असृग्दर प्रायः करके प्रकृति कोप निमित्त से होता है, तथा अनृतु प्रवृत्त असृग्दर की प्रवृत्ति तो विकृति विशेष निमित्तजन्य ही होती है। चरक के मत से तो असृग्दर में आर्तव-शोणित का प्रमाणाधिक्य मुख्य लक्षण है। कुपितोऽनिलः। रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः। रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः। यस्माद् विवर्धयत्याशु रसभावाद् विमानता। तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तंत्रविशारदाः। (च० चि० ३०) स्रावकाल का वर्णन काश्यप तथा विश्वामित्र ने भी किया है[३]।

१—मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्।
ईषत् कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्। (सु० शा० ३)

२—ऋतौ वायुर्योनिमुखान्नुदेत् प्रेरयेत्। विधौ लिङ्।
तदा योनिमुखं विवृतं सम्पद्यते। (अ० द०)

३—धातुषु परिपूर्णेषु शरीरे समवस्थिते। सञ्चितं रुधिरं योनिः पुनः कालेन मुञ्चति। (काश्यप)
सूक्ष्मकेशं प्रतीकाशाः बीजरक्तवहाः शिराः। गर्भाशयं पूरयित्वा मासाद् बीजाय कल्पते। (विश्वामित्र)

ततः पुष्पेक्षणादेव कल्याणध्यायिमी त्र्यहम् ॥ २४ ॥
मृजालङ्काररहिता दर्भसंस्तरशायिनी ।
क्षैरेयं यावकं स्तोकं कोष्ठशोधनकर्षणम् ॥ २५ ॥
पर्णे शरावे हस्ते वा भुञ्जीत ब्रह्मचारिणी ।

पुष्प दर्शन होने पर कल्याण कामना वाली स्त्री को चाहिये कि तीन दिन तक ब्रह्मचारिणी रहे तथा स्नानादि से शरीर-शोभा नहीं करे एवं कुशा के विस्तर पर सोवे। पत्तल, मृत्तिकापात्र अथवा हस्त, किसी एक में रख कर दुग्ध से साधित यवान्न कम मात्रा में शरीर को कृश करने के लिये तथा कोष्ठशुद्ध्यर्थ प्रयोग करे।

वक्तव्य—

इन श्लोकों से ऋतुमती-चर्या का वर्णन किया है। ऋतुमती स्त्री की दैनिक चर्या का विचार दो तरह से किया जाता है। एक "अप्रशस्त ऋतुकालीन चर्या" दूसरी "प्रशस्त कालीन ऋतु चर्या" होती है। यहाँ प्रथम ऋतुकालीन चर्या का वर्णन किया गया है। पुष्पेक्षण-शुद्धञ्च रक्तं पुष्पसंज्ञम्, तद्दर्शनादारभ्य। अर्थात् भविष्यमाण गर्भाख्य फल का अभिव्यञ्जक पुष्प है। कल्याण—शुभचिन्तन वृत्ति रखना स्त्री के लिये परमावश्यक है। क्षैरेय—क्षीर संस्कृत। यावक—यवान्न। यवापूप इत्येके। वाट्यसंज्ञकः गृञ्जा संज्ञके वेति केचित्। (अ० हृ० कोष) दोनों वाग्भटाचार्यों ने कोष्ठशुद्ध्यर्थ तथा कर्षण के लिये क्षीर संस्कृत यवान्न का अल्प मात्रा में स्त्री को देने के लिये उपदेश किया है। अल्प मात्रा में भोजन दे कर कर्षण करने का उद्देश्य निश्चिति से गर्भधारणा होने के लिये ही है। माता की कृशता तथा पुष्टता का गर्भधारण से सम्बन्ध रहता है। यह सिद्धान्त अवश्य ग्राह्य है। नवीन भी मानते हैं।

गौ, महिष आदि पशु लोक में भी ऋतुकाल में गर्भ स्थिति न होने पर द्वितीय ऋतुकाल में दो-तीन दिन कम मात्रा में खाने को देने से पुनः वृषभादि समागम से निश्चित गर्भ धारण हो जाता है। इस लिये कर्षण[1] कर्म रक्तशुद्धि तथा गर्भाशय-शुद्धि करता है एवं नियत रूप

१—कर्षणं रक्तशुद्धये मार्गशुद्धये च। (इन्दु)

से गर्भ धारणा होती है। मिताक्षराकारों[1] ने भी अल्पाहारादि से कृशता करने के लिये रजस्वला अवस्था में लिखा है।

सुश्रुत ने हविष्य अन्न (अग्नि में आहुति देने योग्य) का स्त्री के लिये आहारार्थ लिखा है। चरक ने किसी विशेष अन्न का नाम नहीं दिया है।

कोष्ठ—"स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते (सु० चि० ८) इससे वक्षगुहा तथा उदर गुहा में होनेवाले सभी अङ्गों का समावेश हो जाने से कोष्ठ की व्याप्ति बहुत अधिक बढ जाती है तथापि उसके प्रयोग के सम्बन्ध में यह स्मरणीय होता है कि यह प्रायः एक अङ्ग के लिये प्रयुक्त होता है। उस अङ्ग का निश्चय प्रकरण के अनुसार किया जाता है। यहाँ पर कोष्ठ से "शरीरस्य महास्रोतो मध्यमो भाग आमपक्वस्याशयः कोष्ठशब्दवाच्यः। स एव गर्भाधिष्ठानम्, अतस्तस्यैव शोधनम्, तथा, तदङ्गानां कर्षणमिति व्याख्येयम्।" "न पुनः कोष्ठस्य शोधनमन्येषां चाङ्गानां कर्षणम्। तथाहि—त्रिवृतादिना विरिच्यते, नैवमनेन यावकेन। वस्तुस्वाभाव्यात् कोष्ठशोधने कर्षणमात्रमेव क्रियते।" (अ० द०) अलङ्कार—कटकादिः पुष्पादिर्वा। संग्रह में इस समय उष्ण और तीक्ष्ण अन्न का निषेध भी किया है। यह उचित भी प्रतीत होता है, क्योंकि इनके सेवन से गर्भाशय में रक्ताधिक्य हो कर आर्तव स्रुति बढ जाती है, जिससे गर्भ की स्थिति गर्भाशय में होनी कठिन हो जाती है, जिससे सुश्रुत में यह प्रकरण बहुत विस्तार से किया गया है[2]।

१—क्षामता च तस्मिन् काले रजस्वला व्रतेनैव भवति। अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत्पत्त्यर्थमल्पाऽस्निग्धभोजनादिना। (मिताक्षरा)

२—ततः पुष्पात् प्रभृति त्रिरात्रमासीत ब्रह्मचारिण्यधःशायिनी पाणिभ्यामन्नम-जर्जरात् पात्राद् भुञ्जाना च। न च काञ्चिन्मृजामापद्येत। (च० शा० ८) ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यञ्जनखच्छेदनप्रधा-वनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत्। ...इत्यादि दर्भसंस्तर-शायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं त्र्यहं च भर्तुः संरक्षेत्। (सु० शा० २)

चतुर्थेऽह्नि ततः स्नाता शुक्लमाल्याम्बरा शुचिः ॥ २५ ॥
इच्छन्ति भर्तृसदृशं पुत्रं पश्येत् पुरः पतिम् ।

चतुर्थ दिन (आर्तव बन्द होने पर) शरीर में अभ्यङ्गादि करके स्नान कर चन्दनादि सुगन्ध से सुवासित होकर (बाहर तथा भीतर से शुद्ध होकर) निर्मल वस्त्र एवं श्वेत माला धारण करके इसी तरह पवित्र वस्त्रादि से अलंकृत पति को एकाग्र चित्त से देखे ।

वक्तव्य—चतुर्थेऽह्नि—चतुर्थ दिन का निर्देश इसलिये किया है कि उस दिन प्रायः आर्तव स्राव बन्द हो जाता है । स्नाता तथा शुचि इन दो शब्दों का यह अर्थ है कि स्त्री की शुद्धि केवल स्नान मात्र से नहीं है, यह तो बाहर की शुद्धि है अपितु आर्तव स्राव बन्द होने पर अर्थात् "जीर्ण रक्त के निकल जाने पर तथा नये रक्त के स्थित होने पर शुद्ध होकर स्नान की हुई एवं जिसकी योनि, रज, गर्भाशय दुष्ट नहीं हो" क्योंकि बहुत स्त्रियां चतुर्थ दिन भी रजस्वला रहती हैं । शुचिः अन्तर्बहिश्च । डह्लन ने—"जीर्णशोणितापगमेनान्तःशुद्धा स्नानेन च बहिःशुद्धा... । द्वारा जीर्ण शोणित के बन्द हो जाने पर अन्तःशुद्धि तदुत्तर स्नान करने से बहिःशुद्धि का प्रतिपादन किया है । मनु पाराशर, आपस्तम्ब, विज्ञानेश्वर आदि ने धर्मशास्त्र की दृष्टि से प्रथम चार दिन समागम के लिये निषिद्ध बतलाये हैं ।[१] आचार्य सुश्रुत ने प्रथमादि दिनों के सहेतुक गुणदोषों का वर्णन भी किया है । कुछ वैज्ञानिकों ने यह अन्वेषण भी किया है कि रजस्वला स्त्री के रक्त में एक रजो-विष होता है जो स्वेद, दुग्ध आदि द्वारा उत्सर्गित होता है । यदि

१—रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला । मनुः ।
साध्वाचारा न तावत् स्याद्रजो यावत् प्रवर्तते ।
रजोनिवृत्तौ गम्या स्त्री गृहकर्मणि चैव हि । पाराशरः ।
स्नानं रजस्वलायास्तु चतुर्थेऽहनि शस्यते ।
गम्या निवृत्ते रजसि नानिवृत्ते कथञ्चन । आपस्तम्बः ।
शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽन्हि स्नानेन स्त्री रजस्वला ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुद्ध्यति । विज्ञानेश्वरः ।

रजस्वला स्त्री हाथों में पुष्प लेती है तो वह रजोनिवृत्त स्त्री के हाथों की अपेक्षा जल्दी मुरझा जायेंगे। स्त्री के दुग्ध में भी वह विष निकलता है तथा बालक को तकलीफ भी देता है। आचार्यों ने[१] रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन करने से नानाविध रोगोंकी उत्पत्ति, दृष्टि, आयु तेज की हानि, प्रजा, लक्ष्मी तथा, बल का नाश एवं अधर्म भी लिखा है।

शुक्लमाल्याम्बरा—श्वेत-स्वच्छ वस्त्र, पुष्पों की माला से विभूषित। यह भी स्मरणीय है, कि बहुत सी स्त्रियां पञ्चम दिन भी रजोयुक्ता होती हैं, इसका तात्पर्य यही है कि जिस दिन भी आर्तव स्राव बन्द हो उसके दूसरे दिन से स्नानोत्तर शुद्धि मानी जाती है, क्योंकि "निवृत्त रज होने पर गम्या स्त्री होती है स्राव प्रवृत्ति में कभी नहीं"—नवे तनौ च संजाते विगते जीर्णशोणिते। नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा। (सु. शा. २ श्लो. २५ डह्लन) वचनानुसार रजोनिवृत्ति होने पर ही शुद्धि होती है। कम से कम मासिक धर्म तीन दिन रहा करता है, इसी आधार पर "त्र्यहं" लिखा है। वृ. वाग्भट तथा काश्यप ने शीतल जल से स्नान करना बतलाया है[२]।

ऋतु के बाद शुद्ध स्नाता स्त्री के लिये सर्व प्रथम अपने पति के दर्शन करने का विधान है, क्योंकि ऐसा मानते हैं कि ऋतुस्नाता जिस तरह के पुरुष को देखती है, उसी तरह की सन्तति उत्पन्न होती है। अतः सर्वप्रथम पतिदर्शन का विधान है। अपने इच्छानुसार सन्तति उत्पन्न करने के लिये तदनुरूप चिन्तन की परम आवश्यकता है। चरक ने लिखा है कि जो-जो स्त्री जैसे-जैसे पुत्र को चाहती हो उस-उस स्त्री को उस-उस

१—रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीकराणाम्. (च. सू. २५)
दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम्। ईदृशीं प्रमदां मोहाद् यो गच्छेत् कामहर्षतः। ध्वजभङ्गः प्रवर्तते। (च. चि. ३०) रजस्वलां प्राप्तवतो नरस्यानियतात्मनः। दृष्टयायुस्तेजसो हानिरधर्मश्च ततो भवेत्।
(सु. चि. २४)।

२—चतुर्थेऽह्न्युद्वर्तिता शीतसलिलस्नाता। (वृ. वा.) शीतेन शौचं कुर्यात्।
(जातीयसूत्रीये काश्यपः)

पुत्रेच्छा को सुनकर उन-उन देशों के मनुष्यों को मन में सोचने के लिये कहना चाहिये। तथा जो-जो स्त्री जिन-जिन देशों के पुरुषों के अनुरूप पुत्र को चाहती हो उनका मन में चिन्तन करते हुए उन-उन देशों के आहार-विहार तथा परिधान के अनुसार ही कार्य करें। ऐसा स्त्री को उपदेश देना चाहिये[1]।

निष्कर्ष—ऋतुकाल में स्त्री के शरीर में आर्तव या बीज उत्पन्न होता है तथा उस समय स्त्री जिस तरह के चिन्तन में रहती है उसी तरह की सन्तान उत्पन्न हो जाती है। रामायणादि महाकाव्यों में पतिव्रता स्त्री के लिये पति परम देवता माना गया है,। पति के सदृश सन्तान उत्पन्न होने में सर्वथा औचित्य भी है, इसलिये पतिदर्शन करने का आदेश है। चरक[2] अष्टाङ्गसंग्रह के मत से केवल दर्शन से ही लाभ नहीं होता है, दर्शन के समय अनन्यमनस्क होकर उसीसे चिन्तन के साथ स्त्री जिस तरह की सन्तान चाहती हो, वैसा ही आचार करे। चरक ने पति दर्शन का निर्देश नहीं किया है। अरुणदत्त ने भी पुत्र शब्द से यहाँ केवल सन्तान का ही अर्थ किया है[3]। व्यवहार से पति के समान पुत्र होने में सार्थकता कम है किन्तु उत्तम पुत्र होने में सार्थकता है। कुछ विद्वान् इसी को गर्भोत्पत्ति में मानसिक आचार कहते हैं।

१—या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां तां पुत्राशिषमनुनिशम्य तांस्तान् जनपदादीन् मनसाऽनुपरिक्रामयेत्।ताननुपरिक्रम्य या या येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां जनपदानामाहारविहारोपचारपरिच्छदानुविधत्स्वेति वाच्या स्यादिति— (च. शा. ८)

गर्भोपपत्तौ तु मनः स्त्रिया यं जन्तुं व्रजेत्तत् सदृशं प्रसूते। (च. शा. २)

शुद्धस्नाता हि स्त्री यं वा पश्यति मनसा वाऽभिध्यायति, तादृशाचारयुतं पुत्रं प्रायेण जनयति। (काश्यप)

२—भर्तारं पश्येदनन्यमनाः। तदा हि यादृशमेव पश्यति चिन्तयति वा तादृशं प्रसूत इति। (अ. सं. १ शा.)

शुद्धस्नानमात्रा हि स्त्री यं वा पश्यति मनसा वाऽभिध्यायति तादृशाचारवपुषं प्रायेण जनयति।...अनयमना इति। जातीसूत्रीयशारीरे काश्यपः।

३—पुत्रशब्दोऽपत्यमात्रोपलक्षणार्थोऽत्र। (अरुणदत्त)

ऋतुस्तु द्वादश निशाः, पूर्वास्तिस्रोऽत्र निन्दिताः ॥ २६ ॥
एकादशी च,

अर्थ—ऋतु (आर्तवकाल) द्वादश रात्रि का है, इनमें प्रथम तीन रात्रि निषिद्ध मानी गई है तथा एकादशी को भी निंन्दित मानी है।

वक्तव्य—इस श्लोक से पुष्प दर्शन से लेकर द्वादश रात्रि पर्यन्त स्त्री की ऋतुसंज्ञा है, न कि तीन दिन ही (जिन दिनों में आर्तव स्राव होता है) यह स्पष्ट किया है—

१. महीने में कुछ ऐसे दिन होते हैं कि उन दिनों में स्त्री-पुरुष के आयुर्वेद विहित समागम करने पर गर्भधारण होने की अधिक संभवना होती है। उसको ऋतुकाल कहते हैं। २. स्त्रियों की उस अवस्था विशेष को ऋतुकाल कहते हैं जिस समय वे गर्भधारण योग्य होती है। ३. मासिक स्रावयुक्त गर्भधारण योग्य काल विशेष को ऋतु कहते हैं। यह दुष्टार्तव के लिये भी अभिप्रेत है। इस मासिक धर्म को शरद्-हेमन्तादिऋतु साधर्म्य से ऋतु संज्ञा दे करके ऋतुशब्द से आचार्यों ने कहा है, उसी तरह आर्तव दर्शन होने पर उस ऋतु समय में बोया हुआ शुक्र बीज उत्पन्न होता है।

महर्षियों ने गर्भोत्पत्ति की तुलना तक वर्णन अंकुरोत्पत्ति "ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्यात्" इस श्लोक से की है। जैसे अंकुरोत्पत्ति के लिये अनुकूल काल की आवश्यकता होती है, उसी तरह गर्भोत्पत्ति के लिये भी अनुकूल काल की आवश्यकता होती है। जिस तरह उस काल को ऋतु कहते हैं, वैसे ही गर्भोत्पत्ति के लिये भी यह समय अनुकूल होने से इस काल को ऋतुकाल कहते हैं।

यह ऋतुकाल प्रशस्त तथा अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें दुष्ट आर्तव को उद्भूत रज तथा अदृष्ट आर्तव को अनुद्भूत रज चक्रपाणि ने नाम दिये हैं। इनमें उद्भूत को बहिःपुष्प तथा अप्रशस्त ऋतुकाल कहते हैं। इस समय प्रथम तीन-चार दिन तक प्रत्यक्ष रूप में निकलने वाला रक्तस्राव गर्भोत्पत्ति के लिये सर्वथा अयोग्य

होता है। अनुद्भूत रज का अर्थ होता है—जो अदृष्ट, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता तथा स्राव के उत्तर काल में जो पुरुषों के समागम से स्त्रियों का आर्त्तव पक्व होकर कोष से बाहर विसर्पित होता या निकलता है अर्थात् पुरुष का स्त्री के साथ बीजविपाक कार्य उद्दीपित करके बीज को शीघ्रता से कोष के बाहर प्रवर्तित करता है। इसको प्रशस्त ऋतुकाल तथा अन्तःपुष्प कहते हैं। यह उद्भूत रज ही गर्भोत्पत्ति में सहायक होता है। इस प्राचीन मत में चक्रपाणि अधिक स्पष्ट करते हैं कि—पांच रात्रि तक निकलने वाले स्राव को बहिःपुष्प या जीर्ण शोणित तथा उसके बाद बारह रात्रि तक पुरुष समागम से द्रवीभूत होकर फैलने वाला गर्भोत्पत्ति में समर्थ रज को अनुद्भूत रज, अन्तःपुष्प, अदृष्ट, या नव शोणित कहते हैं। इस प्रकरण से सम्बन्ध रखने वाली कुछ शङ्काओं का समाधान "घृतपिण्डो यथैवाऽग्नि" इस श्लोक की टीका में डह्लन ने किया है।

ऋतुकाल आचार्यों ने १६ दिन तथा कुछ ने एक मास का भी माना है। आधुनिक युग में भी बीजागम प्रशस्त ऋतुकाल ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो सका है। अप्रशस्त "ऋतुमर्यादा" ७ दिनों की प्रायः निश्चित ही है। कुछ ऐसी भी स्त्रियां होती हैं जिनमें आर्तव स्राव नहीं होता है किन्तु ऋतुमती होती हैं।

१. सुश्रुत के मत में, जिसमें आर्तव दर्शन होता है, उन स्त्रियों में प्रशस्त ऋतुकाल द्वादश रात्रि का होता है।

२. चक्रपाणि ने चरक शारीरस्थान द्वितीय अध्याय में हारीत मत के साथ सोलह रात बतलाया है।

३. भावप्रकाश में भी मासिक धर्म होने के दिन से लेकर षोडश रात्रिपर्यन्त समय को ऋतुकाल कहा है।

४. मधुकोषकार ने भी षोडश वासर को ही ऋतुकाल कहा है।

५. मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में भी षोडश रात्रि को ही माना है।

६. विदेह ने भी सोलह दिनों का माना है।

७. विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका में षोडश दिन आर्तव दर्शन के दिन से ही गिनने के लिये लिखा है।

८. अष्टांग संग्रह में तथा इन्दु और अरुणदत्त ने भी ऋतुकाल का प्रारम्भ आर्तव दिन से ही गिनने के लिया कहा है।

प्रायः करके ऋतु शब्द का प्रशस्त ऋतु में ही व्यवहार होता है। इन्दु, डह्लन तथा काश्यप ने भी फल प्रसवानुगुण निषिक्त बीज के काल के लिये तथा स्त्री के रजःसमय के लिये क्रमशः ऋतु शब्द का अर्थ किया है।

इनमें षोडश रात्रिमित ऋतुकाल की गणना में ऋतुकाल का प्रारम्भ ऋतु स्नान के दिन से अर्थात् चतुर्थ दिन से मानने का आदेश डह्लन ने दिया है। इनमें यह हेतु बतलाये हैं कि प्रारम्भ के ३ दिन स्राव के दिन हैं तथा सोलहवें दिन योनिसङ्कोच के दिन को नहीं गिनने से द्वादश दिन हो जाता है। काश्यप संहिताकार ने भी ऋतुकाल का प्रारम्भ चतुर्थ दिन से ही बतलाया है। जैसे "यदि रजस्वला स्त्री के रजोदर्शन के प्रथम दिन ही गर्भ की स्थिति हो जाने पर उसको वृक्षों के वातपुष्प की तरह "वातगर्भ" कहते हैं तथा विफल (उस गर्भ के सन्तान की उत्पत्ति नहीं होती है) यदि रजोदर्शन के द्वितीय दिन गर्भाधान किया जावे तो गर्भपात (स्राव या पतन) हो जाता है। रजोदर्शन के तृतीय दिन यदि गर्भाधान हुआ तो उत्पन्न बालक की सूतिकागृह में ही मृत्यु हो जाती है, अथवा यदि मृत्यु नहीं भी हो तो वह बालक दीर्घायु नहीं होता तथा हीनाङ्ग होता है। इन तीनों रात्रियों के बाद ऋतुकाल होता है। यह ब्राह्मणी के लिये १२ दिन, तथा अन्य शूद्रादि स्त्रियों के लिये ६ दिन होता है।"

"ऋतुर्बीजकालमपेक्षत इत्याहुर्महर्षयः"। (काश्यप)

ऋतु—बीज (शुक्र और शोणित) तथा काल की अपेक्षा रखता है—ऐसा महर्षियों का सिद्धान्त है। (काश्यप) संग्रहकार ने ऋतुकाल का चार मतों से वर्णन किया है—(१) ऋतुकाल का दर्शन होने

पर द्वादश रात्रि तक। (२) षोडश रात्रि तक। (३) योनि और गर्भाशय की शुद्धि होने तक एक मास तक ऋतु होती है, ऐसा कई मानते हैं। (४) अन्य आचार्य इसी प्रकार आर्तव के न दीखने पर भी ऋतु मानते हैं।

डह्लन ने भी कहा है कि जब ऋतुकाल षोडश दिन हो तब उसका प्रारम्भ आर्तवदर्शन दिन से तथा द्वादश दिन हो तब उसका प्रारम्भ चतुर्थ दिन से ही गिनना चाहिये।

प्रमाणसंग्रह—

आर्तवदर्शनञ्च शरदाद्यृतुसाधर्म्यादृतुशब्देनोच्यते। तथा ऋतावुप्तानि बीजानि प्ररोहन्ति तथाऽर्तवदर्शनाख्येऽपि ऋतौ शुक्ररूपं बीजमुपतप्तमिति ऋतुसाधर्म्यम्।
(चक्रपाणि ३ शारीर)

पञ्चरात्रानुबन्धीति—उद्भूततया पञ्चरात्रमनुबध्नातीति पञ्चरात्रानुबन्धि, द्वादशरात्रानुबन्धित्वादार्तवकालस्य, किंवा द्वादशरात्रपर्यन्तं गर्भारम्भकत्वमार्तवस्य नतु प्रवृत्तिरिति।
(चरक चक्रपाणि ३० चि०)

वर्षद्वादशकादूर्ध्वं यदि पुष्पं बहिर्नहि।
अन्तःपुष्पं भवत्येव पनसोदुम्बरादिवत्। (काश्यप)
ऋतुर्द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः। तद्वददृष्टार्तवोऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते॥
(सु. शा. ३)

आर्तवस्रावदिवसादृतुः षोडशरात्रयः। गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः।
(भावप्रकाश)

ऋतुकालन्तु षोडशरात्रं यावत्, यदुक्तं हारीते—
'षोडश दिवसा ऋतुकाल' इति (चक्रपाणि २ शारीर)
स्त्रीणामृतुर्भवति षोडश वासराणि। (विदेह)
षोडश निशाः स्त्रीणाम्। (याज्ञवल्क्यस्मृति) १।१९।
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः। (मनुस्मृति ३।४६)
ऋतुदर्शनात् प्रभृति यावद् द्वादशरात्रय स्तावदृतुर्योषितः। (अरुणदत्त) द्वादशमिति षोडश दिनेषु मध्ये आद्यं दिनत्रयमन्तिमञ्च षोडशं योनिसङ्कोचदिनं न गणनीयम्।
(डह्लण)

ऋतुस्तु दृष्टार्तवो द्वादशरात्रं भवति। षोडशरात्रमित्यन्ये। शुद्धयोनिगर्भाशयार्तवाया मासमपीति केचित्। तद्वददृष्टार्तवोऽप्यस्तीत्यपरे। (वृ. वा. शा. १)
ऋतुर्नाम शोणितदर्शनोपलक्षितो गर्भधारणयोग्यः स्त्रीणामवस्थाविशेषः।
(कुल्लूकभट्टः)

....युग्मासु पुत्रोऽन्यासु कन्यका । २६।१

अर्थ—युग्म-समरात्रियों में समागम करने से पुत्र तथा विषम रात्रियों में कन्या उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—युग्म रात्रियों में समागम के फल के विषय में सुश्रुत में पुत्रार्थी पुरुष को चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, दशमी, द्वादशी की रात्रि में समागम करना चाहिए, इन रात्रियों में उत्तरोत्तर प्रजा की आयु, आरोग्य, सौभाग्य, ऐश्वर्य और बल की अभिवृद्धि होती है। उसी तरह पञ्चमी, सप्तमी, नवमी तथा एकादशी की रात्रियों में कन्याकामी को समागम करना चाहिए। त्रयोदशी प्रभृति निन्द्य हैं।[1]

विदेहाचार्यने इस मत की पुष्टि—सम दिनों में स्त्रीबीज अत्यधिक अल्प बल होने से पुत्र होता है तथा विषम दिनों में स्त्रीबीज बलवान् होने से कन्योत्पत्ति होती है—ऐसे की है। "शुक्र बाहुल्य से पुमान् तथा आर्तवाधिक्य से कन्या" इस सिद्धान्त में भी इस हेतु से विरोध नहीं होता है।[2] हारीत ने चक्रपाणि के उद्धरण से—चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, द्वादशी तिथियों में गुणवान् तथा आयुष्मान् पुत्रजन्म, पञ्चमी,

---

स्त्रीणां गर्भधारणयोग्यावस्थोपलक्षितः कालः ऋतुः । (विज्ञानेश्वरः)

ऋतुश्च निषिक्तस्य बीजस्य फलप्रसवानुगुणः कालः । (इन्दु)

ऋतुरङ्गनाया रजःसमयः । (डल्हण)

ऋतुकाले ऋतुर्वा नाम रजसोपलक्षितः कालविशेषो गर्भधारणयोग्यः स्त्रियाः पुनर्दृष्टार्तवाया अभिमतः । (अ. प्र. तं.)

१—चतुर्थ्यां षष्ठ्यां अष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकामः । अतः परं पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्यां च स्त्रीकामः ।

युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽबला ।
पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं व्रजेत् ॥ (सु. ३ शा.)

२—युग्मेषु दिनेष्वासां भवत्यल्पतरं रजः ।
संयोगं तत्र या गच्छेत् सा पुमांसं प्रसूयते ॥ १ ॥
अयुग्मेषु दिनेष्वासां भवेद् बहुतरं रजः ।
संयोगं तत्र या गच्छेत् सा तु कन्यां प्रसूयते ॥ २ ॥

नवमी, एकादशी में गुणवती कन्या तथा सप्तमी में दुर्भग कन्या जन्म का आदेश दिया है।[1]

आचार्य भोज तथा भावमिश्र ने भी युग्म-अयुग्म के विषय में इसी का समर्थन किया है।[2]

वृद्ध वाग्भट ने युग्मरात्रियों में आर्तव अल्प होता है तथा अयुग्मों में शुक्र अल्प होता है, यह कहकर क्रमशः पुत्र एवं कन्या के जन्मोत्पत्ति पर विचार किया है।[3]

मनुस्मृति में भी पुत्रार्थी को युग्म रात्रियों में समागम का निर्देश किया है।[4] यहाँ पर युग्म तथा अयुग्म रात्रि का जो नियम तथा कारण बतलाये हैं, उन से यह अवश्य ज्ञात होता है कि इन दिनों में पुत्र होने की अधिक सम्भावना होती है, किन्तु निरपवाद नियम नहीं है। इसलिये इस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि ब्रह्मचर्य, खाद्यपेयादि बातों पर पुत्रोत्पत्ति को ध्यान में रखकर विशेष ध्यान दिया जावे, तो विषम रात्रियों में भी पुत्र उत्पन्न हो सकता है तथा समरात्रियों में कन्योत्पत्ति भी हो सकती है। इस विषय का विवेचन वृद्ध वाग्भट ने "यदि कभी आहार की उत्तमता के कारण विषम दिनों में शुक्र का आधिक्य हो जाने पर तथा सम दिनों में शुक्र की न्यूनता हो जाने पर जो पुत्र-सन्तति उत्पन्न होती है, वह स्त्री-प्रकृति,

---

१—चतुर्थीषष्ठ्यष्टमीद्वादशीषु गुणवन्तमायुष्मन्तं पुत्रं जनयति। पञ्चमीनवम्येकादशीषु कन्यां गुणवतीम्। सप्तम्यां दुर्भगां कन्यामिति।

(च. शा. अ. ५ श्लोक टीका चक्रपाणि उद्धृत हारीत वचन)

२—शुक्राधिक्यत्वात् पुरुषः प्रमदा रजसोऽधिकात्। शुक्रशोणितयोः साम्यात् तृतीया प्रकृतिर्भवेत्। (भोज)

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु। (भा. प्र.)

३—तत्र युग्मासु रात्रिष्वल्पीभवत्यार्तवमयुग्मास्वाप्यायते। तस्मात्तासु क्रमात् पुत्रस्य दुहितुश्च जन्म। (अ. सं. १ शा.)

४—युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु। तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्। (मनुस्मृति)

स्त्री-शरीर-गठन के होते हैं। कुछ स्त्रियाँ—स्त्री होती हुई भी पुरुष-प्रकृति-पुरुष गठन की होती है।

इनमें स्त्र्याकृतिवाली दुर्बल तथा हीनाङ्गी होती है। मनुस्मृति में भी—"पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे" इस श्लोक की टीका में कुल्लूक भट्ट ने बहुत ही सुन्दर मार्मिक शब्दों में इस निरपवाद सिद्धान्त के लिये ऐसा स्पष्ट लिखा है—युग्म तथा अयुग्म रात्रियों में पुत्र तथा कन्या की उत्पत्ति होने पर भी वृष्य आहार आदि के सेवन से निज वीर्य की आधिक्यता तथा आहार लाघवादि से स्त्री के बीज की अल्पता होने पर अयुग्म रात्रियों में भी पुत्रार्थी को स्त्रीसमागम करना चाहिए।

"अत एव च शुक्रस्य बाहुल्यात्" इस श्लोक के व्याख्यान में भावप्रकाश के "मनोभवागारमुखेऽबलानाम्" श्लोकों से तथा "स्त्री-पुरुषयोः संयोगे" इस दारुवाहक वचन से काल प्रभाव का भी प्रभाव देखने में आता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि काल-विशेष समागम में लिङ्ग विशेष ही है—इसलिये प्रारम्भ के नव दिनों में पुत्र, उसके बाद दश दिन से लेकर १४ दिन तक कन्या अथवा पुत्र, पुनः १५ दिन से २३ दिन तक कन्या इसके बाद गर्भधारण होने पर पुत्र ही उत्पन्न होता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि शुक्रकीटाणु शुक्र में सबल और निर्बल भेद से दो प्रकार के होते हैं। सबल से पुत्र और निर्बल से कन्या उत्पन्न होती है, इसलिए यदि एक दूसरे से अलग कर दिये जावें तो अपनी इच्छानुसार पुत्र तथा कन्या उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए विशेषज्ञों का मत है कि पुरुषत्वकारक शुक्राणु अन्य प्रकार के शुक्राणुओं से अत्यधिक चपल, सबल तथा कठिनताओं के साथ मुकाबला करने में सफल होते हैं। अतः पुत्रार्थी को योनिमुख में ही शुक्रपात करना चाहिए तथा भीतर के पहुँचने के मार्ग में कठिनता होने पर भी यदि गर्भ स्थिति हो जावे तो अवश्य पुत्रोत्पत्ति ही होगी। इस में यह भी हेतु बताते हैं कि उनका अपत्यपथ संकट एवं अक्षुण्ण होने के कारण प्रबल वे शुक्रकीटाणु विदूर-

स्थित बहुल उस योनि गर्भाशय मार्ग को आक्रमण करके स्त्री बीज के साथ सन्तत्युत्पादन में समर्थ हो जाते हैं। यह सिद्धान्त किसी अंश में भावमिश्र प्रतिपादित—"पुत्रं प्रसूते बहुधाऽङ्गना सा सुरतोपविष्टा" इस नाड़ी विचार मत से मिलता है।

प्रमाण संग्रह—

यदि त्वाहारानुरोधादयुग्मासु शुक्रस्याधिकता युग्मासु च न्यूनता स्यात्, ततः पुमान् स्त्र्याकृतिर्दुर्बलो हीनाङ्गो वा जायते, स्त्री च पुरुषाकृतिर्दुर्बला हीनाङ्गा वा। (अ. सं. १ शा.)

"पुंसोऽधिकेऽयुग्मास्वपि पुत्रो जायते। स्त्रीबीजेऽधिके युग्मास्वपि दुहितैव। अतो वृष्याहारादिना निजबीजाधिक्यं भार्यायाश्चाहारलाघवादिना बीजाल्पत्वमवगम्यायुग्मास्वपि पुत्रार्थिना गन्तव्यमिति दर्शितम्।"

(कुल्लूक भट्ट)

निष्कर्ष—इस श्लोक में सम दिन समागम फलका निर्देश किया है। "अचिन्त्यत्वाद् हेतुभावस्य" इस सिद्धान्तानुसार चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, दशमी, द्वादशी रात्रियों में समागम से पुत्र होता है। आयुग्मा पञ्चमी, सप्तमी, नवमी निशाओं में कन्योत्पत्ति होती है। एकादशी निन्द्य है तथा चकार से त्रयोदशी में नपुंसकोत्पत्ति होने से वह भी त्याज्य है।

उपाध्यायोऽथ पुत्रीयं कुर्वीत विधिवद् विधिम्। २७।
नमस्कारपरायास्तु शूद्रायामत्र वर्जितम्।

इसके अनन्तर उपाध्याय विधिवत् पुत्रीय विधि को करे। शूद्रों के लिये मंत्र भाग को छोडकर पुत्रीय विधि करे।

वक्तव्य—अथ-शब्द आनन्तर्य में मङ्गल सूचक है। ऋतुकाल के बाद स्त्री की बाहर तथा आभ्यन्तर शुद्धि एवं पति दर्शनानन्तर। उपाध्याय—अथर्वद वेत्ता पुरोहित। "उपाध्यायस्तु वैदिककर्माभिज्ञो याज्ञिकः"। (हा०)

पुत्रीय विधि—पुत्र काम्येष्टि यज्ञ। इसका विशद वर्णन चरक

शारीर अष्टमाध्याय में हुआ है। वहाँ पर पुत्रीय हवन केवल त्रैवर्णिकों के लिये है, शूद्रों के लिए केवल नमस्कार मात्र किया जाता है।[1]

यह पुत्रीय विधि डल्हन टीका में भी वर्णित हुई है। दोनों विधियों में पुत्रकामा शब्द का प्रयोग होने से अपत्य अभिप्रेत है। इसलिए यह पुत्रीय विधान केवल पुत्रार्थ ही नहीं, अपितु दुहिता के लिए भी हो सकता है। इस विधान में "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" इस ऋचा का नाम आया है इस ऋचा को इष्टिसाधिका कहते हैं। इसका यह स्वरूप है—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टरूपाणि पिंशतु।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। १।
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा। २।
हिरण्मयी अरणीयं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे। ३।
यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।
वायुर्दिशां यथा गर्भं एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति। ४।

(इति ऋचः)

सुश्रुत में भी पुत्रीयेष्टि का विधान है।[2]

अवन्ध्य एवं संयोगः स्यादपत्यं च कामतः॥ २८॥
सन्तो ह्याहुरपत्यार्थं दम्पत्योः सङ्गतिं रहः।
दुरपत्यं कुलाङ्गारो गोत्रे जातं महत्यपि॥ २९॥

इस तरह किया हुआ संयोग सफल ही होता है, यही नहीं इच्छानुकूल पुत्र की भी उत्पत्ति होती है। यथोक्त विधिविहित पुत्रीय

१—शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्यात्। देवाग्निद्विजगुरुतपस्विसिद्धेभ्यः।
(च. शा. ८)

२—ततो विधानं पुत्रीयमुपाध्यायः समाचरेत्।
कर्मान्ते च क्रमं होनमारभेत विचक्षणः। (सु. शा. २)

अनुष्ठान करने से दम्पती सम्बन्ध गर्भ की उत्पत्ति में सफल हेतु होता है तथा अभिलाषानुसार पुरुष या स्त्री गर्भ प्राप्ति भी होती है। साधु पुरुषों का यह आदेश है कि सन्तति की इच्छा से ही स्त्री-पुरुष एकान्त में सहवास करें। महत् कुल में उत्पन्न भी दुष्ट सन्तति कुलाङ्गार कहलाती है।

वक्तव्य—

इसी को स्पष्ट करते हैं कि साधुपुरुषों का यह आदेश है कि सन्तति की इच्छा से ही सहवास करना चाहिए। यह प्रतिदिन देखने में आता है कि स्त्री तथा पुरुष पुत्रोत्पादन में समर्थ होते हुए भी १-२ वार के समागम से प्रजोत्पत्ति करने में सफल नहीं होते हैं! उनको प्रतिमास अनेक बार समागम करना पड़ता है, तब कहीं प्रजोत्पत्ति होती है। अतः चरक ने इस विषय में "यथोक्तेन विधिनोपसंस्कृतशरीरयो... (शा. ८) योनिप्रदोषात् (शा. २) पुरुषस्यानुपहतरेतसः (शा. ३) आदि उद्धरणों से विशद वर्णन किया है। एकान्ततः गर्भधारण के लिए निम्न बातें अत्यन्त आवश्यक हैं—

यथा ऋतुकाल[1] बीज की अनुपस्थिति[2] योनि गर्भाशय की शुद्धि[3] स्त्री की इच्छा[4] स्त्री की मनःस्थिति[5] स्त्री की कामशक्ति[6]

१—ऋतुः—स्त्रीणां गर्भधारणयोग्यावस्थोपलक्षितः कालः।
(विज्ञानेश्वरः, याज्ञवल्क्यस्मृतिः)

२—बीजभूतः स्मृतः पुमान्। (मनु.)
तथापि तदधिकरणत्वात् पुरुषो बीजमित्यभिधीयते। (कुल्लूकभट्ट)
विशिष्टं कुत्रचिद् बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्।
उभयन्तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते।
बीजक्षेत्रसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम्। (मनु.)

३—योनावनुपहतायामप्रदुष्टे गर्भाशये। (चरक)

४—विमना गर्भं न धत्ते, विगुणां वा प्रजां जनयति।
प्रजामिच्छन्ती, पुत्राशिषां कर्म, गुणवत् पुत्रार्थी, पुत्रमिच्छन्ती इत्यादि।

५—तत्राल्पाशिता, क्षुधिता, पिपासिता, भीता, विमना, शोकार्ता, क्रुद्धा (संग्रह)

६—तस्मादुत्ताना तन्मना योषित् तिष्ठेदङ्गैः सुसंस्थितैः (संग्रह)

समागमविधि[1] पुरुष की मानसिक स्थिति[2] ध्वजोच्छ्राय की दशा आदि। इसी तरह अनुचित काल, स्त्री बीज का अभाव, स्त्री की अनिच्छा, समागम समय में कामवासना का अभाव मानसिक अस्वस्थता, योनि से दुष्ट स्राव, शुक्राणुओं की न्यूनता, अयोग्यस्थान पर शुक्रक्षरण आदि अनेक कारण प्रतिदिन के स्त्री-पुरुष के संयोग में बाधक हो जाते हैं।

इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितांश्च तौ।
चिन्तयेतां जनपदांस्तदाचारपरिच्छदौ ॥ ३० ॥

स्त्री और पुरुष जैसी सन्तान चाहते हों, तदनुसार रूप और आचार वाले जनपदों का चिन्तन करें तथा उसी तरह आचार और परिच्छंद धारण करें।

वक्तव्य—रूप, वर्ण, संस्थान, प्रमाण आकृत्यादि। चरित—श्रद्धा श्रुत, सत्य, आर्जव, आनृशंस्य, दान, दया, दाक्षिण्य, स्वभावादि। आचार—कुल तथा देश के अनुरूप। परिच्छद—मनुज-गवाश्व-धन-धान्य-वस्त्रालंकाररत्नरथायुध-गृहोद्यान-वीणापणव-गायन-शय्यास्तरणादिः। (अरु०) सुश्रुत ने भी अष्टाङ्गहृदय की तरह दोनों को ही यह विधि करने का आदेश दिया है। चरक तथा संग्रह में यह आदेश स्त्री के ही लिये निर्दिष्ट किया है।

१—पुरुषस्येत्यादिना पूर्वं मैथुनात् प्रागनुपहतरेतस्त्वाद्युक्तं, तथा युक्ते चेत्यनेन तु मैथुनसमयेऽपि शुक्रयोन्यादीनामदुष्टिरुच्यते, मैथुनकाले हि ईर्ष्यादिना शुक्रदुष्टिः सम्भाव्यते। (चक्रपाणि)

२—आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुरुषौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥ (सु. शा. २४)
गर्भावस्था में मातापिता के आहार व्यवहार तथा चेष्टा स्थिति परिस्थिति का प्रत्येक शब्द का प्रत्येक संकल्प का जो उसके कानों में पडते हैं, उसके नेत्रों के समक्ष उपस्थित होते हैं तथा जो संकल्पनाएँ उनके मनमें उठती हैं उन सब का गर्भस्थ शिशुपर प्रभाव पडता है। इसलिये इस समय मातापिता को अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। महाभारत के अनुसार अभिमन्यु ने चक्रव्यूह में प्रवेश तथा उसका भेदन मातृगर्भ में ही सीखा था, जब कि अर्जुन ने अपनी गर्भवती पत्नी सुभद्रा को सुनाया था।

"या या येषां येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेषां जनपदानामाहारविहारोपचारपरिच्छदाननुविधत्स्वेति वाच्या।" (चरक शा० ८।१४)

"यादृशं च पुत्रमाशासीत तद्रूपवर्णचरितान् जनपदाननुचिन्तयेति स्त्री वाच्या...। (अ. सं. शा. १)

कर्मान्ते च पुमान् सर्पिःक्षीरशाल्योदनाशितः।
प्राग्दक्षिणेन पादेन शय्यां मौहूर्तिकाज्ञया ॥ ३१ ॥
आरोहेत् स्त्री तु वामेन तस्य दक्षिणपार्श्वतः।
तैलमाषोत्तराहारा तत्र मंत्रं प्रयोजयेत् ॥ ३२ ॥

पुत्रीयविधि अनुष्ठान करने के अनन्तर पुरुष घृत तथा दुग्ध के साथ शालितण्डुल खाकर ज्योतिर्विद्विद्वान् के आदेशानुसार शुभ मुहूर्त के आधार से दक्षिण पाद से स्त्री से प्रथम शय्या पर आरोहण करे तथा स्त्री वाम पाद से पुरुष के दक्षिण पार्श्व में शय्या पर आरोहण करे। स्त्री तैल तथा माष का ही विशेष रूप से भोजन करे और शय्या पर बैठ कर इस मन्त्र को पढ़े।

वक्तव्य—धर्मशास्त्रानुसार गृहस्थी के लिये सन्तति उत्पन्न करना भी एक प्रधान धर्म है, इसलिए पुत्रीय विधि का विधान किया गया है। शास्त्रकारों ने यहाँ तक लिखा है कि जब तक पुत्र उत्पन्न नहीं होता है, तब तक मनुष्य पितृ-देवताओं के ऋण से मुक्त नहीं होता है, क्योंकि पुत्र शब्द का अर्थ है "पुन्नाम नरकात् त्रायत इति पुत्रः" अर्थात् जो नरक से बचावे श्राद्धादि सत्कर्मों द्वारा उसे पुत्र कहते हैं। इसीलिये "एष वा अनृणी पुत्री" यह श्रुति वाक्य है। रघुवंश में भी "पुत्र जन्म से हर्षित राजा दिलीप रघु पुत्र के जन्म से पितरों के ऋण नामक बन्धन से स्वयमेव मुक्त हो गया।"

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात् स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात्।
(तृ. सं. श्लोक २०)

यह कार्य अन्न के जीर्ण होने पर रात्रि के मध्यभाग या तृतीय भाग में करना चाहिए। चरक शारीर अष्टमाध्याय में यह प्रकरण आया है।

यद्यपि सुश्रुत में समागम के लिये पूर्वरात्र विहित है। प्रशस्त, सन्ध्या समय, मध्यरात्रि आदि निषिद्ध हैं (सन्ध्यापर्वस्वगम्यां च नोपेयात् प्रमदां नरः। गोसर्गे चार्द्धरात्रे च तथा मध्यन्दिनेषु च ॥) (सुश्रुत) किन्तु सुश्रुत ने ही शारीर में "रात्रौ" लिखा है । "रात्रिग्रहणाद् दिवसप्रतिषेधः" इस विज्ञानेश्वर के मत से रात्रि समस्त ही ली गई है। किन्तु तृतीय भाग रात्रि का लेना प्रशस्त है[१]। तैलमाषोत्तराहार—उत्तर शब्द से यहाँ पर तैल माष पित्तल तथा रक्तवृद्धि कारक हैं, इसलिए स्त्री को इनका अत्यन्त सेवन करना चाहिए, नकि विशेषतः शुक्रवृद्धि कारक अन्य क्षीरादि द्रव्यों का यह प्रतिपादित होता है।

मंत्रपाठ—

ओं अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठासि धाता त्वां
दधातु विधाता त्वां दधातु ब्रह्मवर्चसा भवेति ।
ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ ॥
भगोऽथ मित्रावरुणौ वीरं ददतु मे सुतम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—अहिरसि[२]—आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठासि धाता (परमेश्वर) त्वा (तुमको) दधातु (धारण करे) विधाता (सम्पूर्ण संसार को धारण करने वाला परमेश्वर) तुमको धारण करे, ब्रह्मवर्चसा—तेजज्ञान से युक्त हो। ब्रह्मा, बृहस्पति, विष्णु, सोम, सूर्य, अश्विनीकुमार, भग, मित्र और वरुण मेरे को वीर पुत्र देवें। यह शय्याधिरोहण में मन्त्र है।

१—रात्रिभागे (वृ. वा.)। संजातहर्षौ मैथुने चानुकूलौ इष्टगन्धं स्वास्तीर्णसुखं शयनमुपकल्प्य मनोज्ञं हितमशनं मात्रावदशित्वा दक्षिणपादेन पुमान् वामपादेन स्त्री चारोहेत्। (च. शा. ८)।

२—अहिः सूर्यः इव दीप्तिमान् इत्यर्थः ।

मंत्र पाठानन्तर कर्तव्य—

सान्त्वयित्वा ततोऽन्योन्यं संविशेतां मुदान्वितौ ।
उत्ताना तन्मना योषित्तिष्ठेदङ्गैः सुसंस्थितैः ॥ ३४ ॥

इसके बाद परस्पर में प्रियवचनादि से प्रेम उत्पन्न करते हुए सञ्जात हर्ष होने पर तन्मन होकर सहवास करे। संभोग के समय स्त्री उत्तान और तच्चित्त होकर तथा अङ्गों को अच्छी तरह स्थित रखकर गर्भ की इच्छा रखे।

तथा हि बीजं गृह्णाति दोषैः स्वस्थानसंस्थितैः ।

इस विधि से संगम करने से दोष अपने-अपने स्थान में रहते हैं। इस लिए स्त्री बीजको ग्रहण करती है।

वक्तव्य—चरक और संग्रह में गर्भधारण के लिए मन की प्रसन्नता मुख्य मानी गई है। "सौमनस्यं कर्म गर्भधारणानां श्रेष्ठतमः" (च. सू. २५ अ.) सहर्ष (वृ. वा.) सहवास के समाप्त हो जाने पर शीतल जल से स्नान करे तथा योनि आदि का शीतल जल से प्रक्षालन करे। इस प्रकरण में संग्रहकार ने लिखा है कि पुरुष नीचे रहकर मैथुन नहीं करे[१]। नीचे रहकर समागम करने पर यदि सन्तति पुरुष हो, तो उसकी चेष्टायें स्त्री के समान होंगीं। न्युब्ज (सिर नीचा रखकर) तथा पार्श्व में लेटकर समागम नहीं करना चाहिये।

न्युब्जावस्था में वायु बलवान् होता है, वह वायु योनि में पीडा करता है। दक्षिण पार्श्व में लेटने से इसी तरह पित्त पीडित होकर च्युत हो जाने से रक्त तथा शुक्र में विदाह उत्पन्न हो जाता है। इसलिए

१—तस्मादुत्ताना बीजं गृह्णीयात्। तथाहि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः। पर्याप्ते चैनां शीतोदकेन परिषिञ्चेत्। (चरक शा. ८)

एनां कृतरमणां स्त्रियं मैथुनश्रमोष्मप्रशमार्थं शीतोदकेन मुखनयनादिषु योनिषु च परिषिञ्चेत्। (गंगाधर)। तस्मादुत्ताना बीजं गृह्णीयात् तथाहि यथास्थानमेव तिष्ठन्ति दोषाः। नच न्युब्जपार्श्वगतां सेवेत। (वृ. वा.)।

समागम उत्तान (लेटकर) करना चाहिए। इस तरह करने से दोष अपने स्थान में ही रहते हैं। किसी तरह की सम्भावना नहीं। यही मंत्र चरक तथा वृद्ध वाग्भट में इसी तरह है, किन्तु वर्णन विशद रूप में है।

सद्योगृहीतगर्भा के लक्षण—

लिङ्गन्तु सद्योगर्भाया योन्या बीजस्य संग्रहः ॥ ३५ ॥
तृप्तिर्गुरुत्वं स्फुरणं शुक्रास्रानुबन्धनम् ।
हृदयस्पन्दनं तन्द्रा तृड्ग्लानिर्लोमहर्षणम् ॥ ३६ ॥

समागम के समय गर्भ के रह जाने से उसी समय उत्पन्न होने वाले लक्षण—योनि में बीज का रह जाना, मैथुन से सन्तोष, योनि में भारीपन तथा स्फुरण, शुक्र और आर्तव का योनि से बाहर नहीं निकलना, हृदय में स्पन्दन, तन्द्रा तथा ग्लानि, रोमहर्ष ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत से हृदयकार ने 'हृदयस्पन्दन, तृप्ति तथा प्रहर्ष से तीन लक्षण अधिक निर्दिष्ट किये हैं। श्रमो-ग्लानिः पिपासा सक्थि-सदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणञ्च योनेः। (सुश्रुत) ये योग्य सम्भोग होने पर ही स्त्री को स्वयं प्रतीत होने वाले लक्षण हैं। समागम के बाद यदि गर्भधारण हो जाता है तो ये सभी लक्षण प्रथम दो-तीन मास तक बने रहते हैं। चरक ने सद्योऽनुगत तथा पर्यागत (सर्वतोभावेन) गर्भ-भेद से दो तरह के लक्षण वर्णित किये हैं। सुश्रुत ने भी इनका ही अनुकरण किया है। हृदय तथा संग्रह में तो अव्यक्त तथा व्यक्त शब्दों का स्पष्ट निर्देश ही किया है।

अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कललं भवेत्। तत्र व्यक्तस्य लक्ष-णम् (अ. हृ.) अथ नार्याः सद्योगृहीतगर्भायाश्च लिङ्गम्, क्रमेण तु व्यक्त-गर्भायाः—इत्यादि। इन सब के देखने से यह स्पष्ट होता है कि ये अव्यक्तगर्भा स्त्री के लक्षण हैं। योन्या करणभूतया। अथ च योन्या गृहीत-बीजत्वं हेतुः। (अ. द.) इसलिए व्याख्या से "योन्यां बीजस्य" पद

समुचित प्रतीत होता है[१]। योन्या बीजस्य शुक्रस्य ग्रहणं प्रस्रवाभावः। (इन्दु)।

तृप्तिः प्राप्तगर्भापेक्षया रतानभिलाषिता शरीरप्रीणनं वा। गर्भधारण होने से स्त्रियों की रताभिलाषा स्वभावतः अल्प होने से कामवासना की तृप्ति। स्फुरण ईषत् चलन। जिस तरह की अनैच्छिक गति कभी-कभी अक्षि, बाहु आदि में हो जाती है, उसी तरह की गति योनियों में भी इस गति को स्फुरण (Throbbing) कहते हैं। "योन्याश्चाटालत्वम्, स्फुरणञ्च योनेः, स्फूर्तिर्भगे भवेत्" इन चरक सुश्रुत भावप्रकाशीय वचनों से योनि स्फुरण ही स्पष्ट होने पर "गुरुत्वमङ्गस्य तस्यैव स्फुरणम्, गुरुत्वं स्फुरणञ्च कुक्षेः।" इन अरुणदत्त के वाक्यों में भी योनि का ही ग्रहण करना चाहिये। "शान्तमिदमाश्रय पदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य। अथवा भवितव्यानां कारणानि भवन्ति सर्वत्र"—इस कालिदासोक्त्यनुसार जैसे बाहु स्फुरण किसी घटना विशेष का सूचक होता है, उसी तरह योनि-स्फुरण भी गर्भाधान-रूप-घटना-सूचक होता है। स्फुरण स्वप्रत्यय होता है।

शुक्रास्रानानुबन्धन[२]—यहां पर शुक्र शब्द से प्रत्येक मासिक स्राव के साथ या सम्भोग या सम्भोगेच्छा के कारण गर्भाशय-मुख से निकलने वाला श्लैष्मिक स्राव अभिप्रेत है। इसी तरह अस्रानानुबन्धन से—गर्भधारण हो जाने पर प्रायः आगे के महीने में मासिक धर्म नहीं होता है। आनेवाला मासिक स्राव का समय निकल जाने के बाद ही

१—लिङ्गन्तु सद्योगर्भाया योन्यां बीजस्य संग्रहः।
तृप्तिर्गुरुत्वं स्फुरणं शुक्रस्थानानुवर्तनम् ॥ १ ॥
हृदयस्पन्दनं तन्द्रा तृड्ग्लानिर्लोमहर्षणम्।
ततः परं गर्भचिह्नं पुष्पाभावोऽक्षिपक्ष्मणाम् ॥ २ ॥ (र. रत्नाकर।)
तृप्तिश्च बीजग्रहणं च योन्याम्। (चरक)

२—शुक्रस्यार्तवस्य वा परस्परमन्येनाननुबन्धनम्। अननुबन्धनं गर्भविदारणादिना प्रतिबन्धः। (इन्दु)।
कफशोणितयोर्योनेरस्रावोऽथ समुद्भवः। (भा॰ प्र॰)।

"रज का अवरोध" निश्चित होता है। हृदयस्पन्दनम्—हृदय की धड़कन (Throbbing) गर्भावस्था में हृद्द्रव की व्यथा प्रायः मिलती है। संग्रह में "हृदयव्यथा" करके निर्देश भी किया है। कुछ तो पाचन-संस्थान की गडबडी से होते हैं, कुछ गर्भावस्था के विशेषतः अन्तिम दिनों में बढ़े हुए गर्भाशय के ऊपर की ओर के उरोगुहा के सर्वाङ्गों पर पड़ने वाले भार के कारण होते हैं। इसलिये उपरोक्त लक्षण मनःसन्तोषप्रद समागम तथा तत्फलस्वरूप गर्भ धारण के बाद ही सामान्यता से प्रथम मास में ही उत्पन्न होनेवाले गर्भिणी के स्वयं जानने योग्य लक्षण हैं। चरक में भी हृदय के अनुसार ये तीन लक्षण विशेष मिलते हैं। लोमहर्षण—अधिक हर्ष से होता है। ये लक्षण गर्भाधान जब तक स्त्री या पुरुष की दृष्टि से अव्यक्त रहता है, तब तक होते हैं। यह अवस्था ६ सप्ताह तक मानी गई है। ग्लानि—यह गर्भावस्था के छठे सप्ताह के अन्त से लेकर प्रायः मासावधि रहती है। पंचाशत् प्रतिशत गर्भिणी इससे ग्रसित मिलती हैं।

निष्कर्ष—

चरक में "उपचारसाधनं ह्यस्य ज्ञाने। ज्ञानञ्च लिङ्गतः। तस्मादिष्टो लिङ्गोपदेशः। (शा. ४)

इस सिद्धान्तानुसार गर्भ के लक्षणों के ज्ञानधीन गर्भ का विनिश्चय होता है। ये लक्षण यथा काल उत्पन्न होते हैं, उनके बल भेद से हीनबल, मध्यबल एवं उत्तमबल से तीन प्रकार के होते हैं। यथोत्तर इन की प्रामाण्यता स्वीकार की जाती है। प्राचीनों के सद्योऽनुगतगर्भ भेद तथा पर्यागत गर्भ-भेद के लक्षणों में इन सब का समावेश हो जाता है।

प्रमाणसंग्रहः—

निष्ठीविका गौरवमङ्गसादस्तन्द्राप्रहर्षौ हृदयव्यथा च।
तृप्तिश्च बीजग्रहणञ्च योन्यां गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य लिंगम्।

(च० शा० २)

अथ नार्याः सद्योगृहीतगर्भायाश्च 'लिङ्गम् योन्या बीजग्रहणम्, तृप्तिर्गरिमा स्फुरणं शुक्रार्तवयोरननुबन्धश्च। तथा प्रहर्षो हृल्लासस्तन्द्राङ्गसादः प्रसेको हृदय-व्यथा ग्लानिः पिपासा च। (अ. सं. शा. २) इनमें तृप्त्यादि अस्थिर लक्षण हैं, तथा शुक्रास्रावाननुबन्ध, बीजसंग्रह स्थिर लक्षण हैं।

पुंसवन करने का समय—

अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कललीभवेत्।
गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्। २७।

प्रथम मास में गर्भ का एक सप्ताह में कलल हो जाता है, इस मास में "अव्यक्त" रूप में रहता है। अस्तु, व्यक्तावस्था के पूर्व ही पुंसवन-विधि करनी चाहिये। रूप-सप्ताह से प्रारम्भ करके मासपर्यन्त गर्भ का कललीभवन (घनीभवन) चलता रहता है। इस कलल की अवस्था में पुरुष या स्त्री व्यञ्जक लक्षण व्यक्त नहीं होते हैं, इसलिये पुंसवन का प्रयोग व्यक्तीभाव के पूर्व अर्थात् प्रथम मास में करना चाहिये।

वक्तव्य—

कलल के विषय में प्राचीन संहिताओं में विशद वर्णन मिलता है—उन सब का यही एक भाव है कि स्त्री-पुरुष के बीजों का परस्पर मिल जाने पर कललीभाव हो जाता है। इस काल में प्रायः अंगुल-शतांश व्यास कलल गर्भाशय में रहता है। गर्भाशयगत इसकी कललसंज्ञा हो जाती है, क्योंकि चरक का सिद्धान्त है कि "शुक्र शोणित और जीव का संयोग जब कुक्षिगत (कुक्ष्यैकदेशगत गर्भाशयगत) हो जाता है। तब उसे गर्भ कहते हैं। गर्भोपनिषद्-श्रीमद्भागवत तथा हारीत में एक रात्रि में ही इस की कलल संज्ञा निर्दिष्ट की हैं। सुश्रुत भी प्रथम मास में कलल मानते हैं।

प्रमाणसंग्रह—

१ ऋतुकाले सम्प्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवति, सप्तरात्रोषितं बुद्-बुदम्भवति, अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति, मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति। (गर्भोपनिषद्)

२ कललन्त्वेकरात्रेण, पञ्चरात्रेण बुद्बुदम्।
(श्रीमद्भागवत स्क. ३।१)

३ प्रथमेऽहनि रेतश्च संयोगात् कललञ्च यत्। जायते बुद्बुदाकारं शोणितञ्च दशाऽहनि। घनं पञ्चदशाहे स्याद् विंशाहे मांसपिण्डकम्। पञ्चविंशत्तमे प्राप्ते पञ्चभूतात्मसम्भवः। मासैकेन च पिण्डस्य पञ्चतत्त्वं प्रजायते। (हा. सं.)

४ तत्र प्रथमे मासि कललं जायते। (सु.) कललं सिंघाणप्रख्यम् (ड०) गृहीतकाठिन्यम्। (इन्दु)

५ स तु सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि सम्मूर्च्छितः सर्वधातुकललीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद् भूताङ्गावयवः।
(च. शा. ४)

पुंसवन—

भारतीय प्रसूति-तन्त्र में पुत्रप्राप्ति की दृष्टि से यह विधि बताई गई है। गर्भधारण करने के बाद यह विधि की जाती है। पुंसवन शब्द का अर्थ चरक संहिता के टीकाकार चक्रपाणिदत्त ने "पुंसवनमिति पुंस्त्वकारकं कर्म" किया है। "पुमान् लब्धो जायते येन तत् पुंसवनम्। पुमान सूयतेऽनेनेति पुंसवनम्।" अर्थात् गर्भ को पुरुष बनाने की क्रिया को पुंसवन कहते हैं। यह अर्थ रघुवंश में—यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः – इस श्लोक की टीका में श्री मल्लिनाथ ने किया है। आश्वलायनगृह्यसूत्र में भी "पुमान् सूयते येन कर्मणा तदिदं पुंसवनं गर्भसंस्कारकं कर्म" इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार श्री हरिदत्ताचार्य लिखते हैं। "येन स गर्भः पुमान् भवति तत् पुंसवनम्, मासचतुष्कपर्यन्तं गर्भे स्त्रीपुंसयोर्भेदो तिष्ठति। अतः स्त्रीपुंसलिङ्गोत्पत्तितः प्रागेव अयं संस्कारः क्रियते।"

पुत्रोत्पत्ति का महत्त्व सभी जानते हैं। यह हमारे कुल की सम्पत्ति की वृद्धि करता है। इसीलिये वेद में भी उस पुत्र के लिये भी प्रार्थना आई है, क्योंकि वेद भी अपना अधिकार पुरुष को ही देता है अत

एव, इस संस्कार का नाम भी पुंसवन रखा गया है—पुमांसं पुत्रमाधेहि (अथर्व. ६।१७।१०) पुमांसं पुत्रं जनय (अ. सं. ३।२३।३) तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व (अ. ३।२३।४) आते योनिं गर्भ एतु पुमान् (अ. ३। २३।२) विन्दस्व पुत्रं नारि दश अस्यां पुत्रान् आधेहि (ऋ. सं. १०। ८५।४५) कृपणं दुहिताज्योतिर्ह पुत्रः (ऐत० ७।१३) ऋणमस्मिन् सन्नमयति अमृतत्वञ्च गच्छति। पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज् जीवतो मुखम् (ऐ० ३।१) तौ एहि सम्भवाव, सह रेतो दधावहै, पुंसे पुत्राय वेत्तवे (तै० ब्रा० ३।७।१।९) पुमान् गर्भस्तवोदरे (गोमिलगृ० २।६ ३)। स्वामी श्री दयानन्द सरस्वती ने "संस्कार विधि" में लिखा है कि "पुंसवन संस्कार करना चाहिये, जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे" (पृ० ४७)।

वेद ने तो यहाँ तक स्पष्ट किया है कि—हो रहा हुआ पुरुष स्त्री न बन जावे; जिसकी पुंसवन की असफलता में सम्भावना हो सकती है। स्त्री गर्भ भीतर से पुरुष बन जावे। पुरुष गर्भ को धारण करो। हे नारी! तुम्हारा पुत्र पुरुष हो। तुमसे पुनः-पुनः पुरुष का जन्म हो। यह पुरुष जन्म लेगा—जैसे—

१ जायमानं मा पुमांसं स्त्रियंक्रन् (अथ. ८।६।२५) २ पुमान् स्त्री जायतां गर्भो अन्तः। अग्निवेश्यगृह्य सूत्र (१।५।५) ३ पुमांसं गर्भमाधत्स्व, पुमांस्ते पुत्रो नारि ते पुमान् अनुजायताम्। ४ पुमान् अयं जनिष्यते। इत्यादि। (गोभिल. २।७।१५)।

पुत्र शब्द के लिये शास्त्रों में भी "पुत्रः—पुरु त्रायते, नियरणाद् वा, पुन्नरकं ततस्त्रायते—इति वा। (निरु. २।११।१) पुन्नाम नरकं अनेक-शतवारं, तस्मात् त्राति पुत्रः, तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्। अथर्ववेदीय गोपथ-ब्राह्मणे (१।१।२) वैखानसगृह्यसूत्र (६।२) बोधायनीय गृह्यपरिभाषा सूत्र (१।२।५) महाभारत (आदिपर्व २३१।१४) वाल्मीकि रामायण (२।१०७।१२) आदि में भी पुंसवन संस्कार की महत्ता का वर्णन

हुआ है। पुत्रोत्पत्ति से हमारे स्वार्थों की सिद्धि होती है इसलिए प्रथम सन्तान अवश्य ही पुरुष हो—यही इस संस्कार का लक्ष्य है।

मूत्रेन्द्रिय, भग इत्यादि लिङ्ग दर्शक बाह्य अङ्गों की तथा वृषण और बीजकोष (ओवरी Ovaries) इन लिङ्ग पोषक भीतर के अङ्गों की उत्पत्ति का सूत्रपात होने के पूर्व ही पुंसवन कर्म किया जाता है। क्योंकि शिश्नभगादि अङ्गों की उत्पत्ति का आरम्भ हो जाने के बाद लिङ्ग परिवर्त्तन होना दुःसाध्य है। इसी विषय को चरक ने इस तरह स्पष्ट किया है—"तयोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन सम्यक्। तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभि समीक्ष्य प्राग् व्यक्तीभावाद् गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्।" (च. शा. ८)

आयुर्वेद का यह सिद्धान्त है कि शुक्राधिक्य से पुत्र आर्तवाधिक्य से कन्या उत्पन्न होती है। अर्थात् रक्त की प्रबलता होने पर पुत्रांकुर नहीं होगा। और यदि शुक्र की प्रबलता होगी तो कन्यांकुर नहीं होगा। परन्तु इन दोनों के पूर्व शास्त्रोक्त कर्म का सम्यक् प्रकार के प्रयोग से बदल भी सकते हैं। पुत्रांकुर को कन्यांकुर में तथा कन्यांकुर को पुत्रांकुर में बदला जा सकता है। यह कर्म शुभ देश शुभ काल आदि के अनुसार प्रयुक्त होने पर इष्ट फलप्रद होता है। जो कर्म अदेश तथा अकाल में किया जाता है, उससे अनिष्ट फल होता है अर्थात् हानि होती है। इसलिये स्त्री को गर्भ-प्राप्ति हो गई है, यह जानने के बाद गर्भ के व्यक्त होने से पूर्व पुंसवन कर्म तथा तदर्थ औषध प्रयोग करे। अर्थात् जब तक गर्भ का स्त्रीत्व वा पुंस्त्व व्यक्त नहीं होता तब तक पुंसवन कर्म किया जा सकता है। प्रकट होने के बाद पुंसवन व्यर्थ है। तब यह कर्म विवर्तन का कार्य नहीं कर सकता। इसी को चक्रपाणिदत्त ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"प्राग् व्यक्तीभावादिति—यावन्न स्त्रीत्वं पुंस्त्वं वा गर्भस्य व्यक्तं भवति, तावदेव तद्वक्ष्यमाणं कर्म लिङ्गपरिवृत्तिकरं भवति।"

अष्टाङ्गसंग्रह में भी इसी की पुष्टि की है—

"लब्धगर्भां चैतां विदित्वा प्राग्, व्यक्तीभावाद् गर्भस्य पुष्ये पुंसवनानि प्रयुञ्जीत ।"

यह अव्यक्तावस्था एलोपैथिक गर्भ विज्ञान के मत से अधिक-से-अधिक छठे सप्ताह तक होती है।

आयुर्वेद में इस श्लोक द्वारा तथा "व्यक्तिस्तु द्वितीये मासि भवति । यदुक्तम्—"द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते इत्यादि। किंवा तृतीये मासि अङ्गप्रत्यङ्गाभिव्यक्तेर्व्यक्तीभावो ज्ञेयः; द्वितीये तु मासे ग्रन्थ्यादि-रूपे गर्भे प्रत्यङ्गाव्यक्तीभावो न व्यक्तः...(चक्रपाणि) "सप्ताहादनन्तरं यावन्मासस्तावदव्यक्ताकृतिः कललीभवेत् । अत्र कललीभूते यावत् स्त्रीपुरुषाद्युत्पत्तिलक्षणा व्यक्तिर्न भवति तावद् व्यक्तेः प्राक् प्रथमे मासि पुंसवनादि प्रयोजयेत् ।" (अ. द.') इन वचनों द्वारा अव्यक्त तथा व्यक्त अवस्था की कालमर्यादा का वर्णन भी हुआ है। आयुर्वेद प्रतिपादित अव्यक्तावस्था की कालमर्यादा पाश्चात्य कालमर्यादा से अच्छी तरह मिलती है। इस अवस्था में पुंसवन विधि करने के लिये करने के लिये जो लिखा है, वह भी सर्वथा युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है।

गर्भ में लिङ्ग परिवर्तन या इच्छानुसार गर्भ–स्थापन कैसे सम्भव है—

महर्षियों के मतानुसार बीजों की समबलता, उपतप्तता, तथा माता के आहार-विहारादि की विकृतियों से दूषित दोष ही इस अवस्था में हेतु होते हैं। इसलिये चरकोक्त "बीजात्समांशादुपतप्तबीजात् स्त्री-पुंसलिङ्गीभवति द्विरेतः" । बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहार-विहारदोषैः" इस श्लोक के प्रत्येक पदों पर खूब ध्यान देकर देखेंगे तो विदित होगा कितने भावपूर्ण महर्षि के वाक्य हैं। ऐसे सदुपदेशों का प्रचार एवं प्रयोगों से अवश्य ही लिङ्ग परिवर्तन हो सकता है—जैसे—

मानवातिरिक्त प्राणियों में लिङ्गपरिवृत्ति कर कर्म की सफलता वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। उसका मत है कि—आहार, जलवायु भेषज द्रव्य विशेषों के प्रयोगों द्वारा पुरुषकर तथा स्त्रीकर शारीर ग्रन्थियों के बलाबलत्व को अक्षिप्त कर शुक्रार्तव विशेषकृत मूल लिङ्ग प्रवृत्ति में हेतु हो सकता है तथा वर्तमान समय में भी इसके लिये प्रयास हो रहा है।

"पिबेत् पुत्रस्योत्पादनाय स्थितये च" संग्रह। तत्कालमपि पीतो व्यक्तस्याऽपि परिस्थापनं रक्षाभिधानां स्थितिं करोति (इन्दु)। इसलिये गर्भस्थापनत्व रूपादि गुण सम्पत्तियों के प्रदाता होने से यह कर्म निरर्थक नहीं है। इसीलिये आयुर्वेद, धर्मशास्त्र एवं वैदिक साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में गर्भ में लिङ्ग-परिवर्तन-प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन मिलता है। शास्त्रीय दृष्टि से इच्छानुरूप सन्तत्युत्पत्ति के लिये तथा तेजस्वी प्रजा की सृष्टि की कामना पूर्त्यर्थ पुंसवन कर्म की सर्वात्मना सार्थकता है—एवं जाता रूपवन्तः सत्त्ववन्तश्चिरायुषः। भवन्त्यृणस्य भोक्तारः सत्पुत्राः पुत्रिणो हिताः (सु. शा. ३)। इस विषय का सम्बन्ध नव्य विज्ञान की भिन्न शाखाओं के यौन-शास्त्र (Sexology), जीवशास्त्र (Biology), भ्रूण-शास्त्र के (Embryology) साहित्य में वर्णन देख सकेंगे।

बली पुरुषकारो हि दैवमटयति वर्तते।

बलवान् पुरुषकार (पुंसवन संस्कार) दैव को भी अतिवर्तित कर जाता है अर्थात् दैव से भी बढ़ जाता है।

वक्तव्य—इस श्लोक से पुंसवन का औचित्य वर्णन करते हैं। यदि पूर्वजन्मकृत कर्म से ही स्त्री में गर्भ होता है, यही सिद्धान्त निश्चित है तो पुनः पुरुष के परम प्रयत्न करने पर भी इच्छानुरूप गर्भ को पुरुष गर्भ कर देना सम्भव नहीं। अतः पुंसवन कर्म निरर्थक ही है। इस शंका का समाधान इससे हो जाता है।

तत्र यदि प्राक्कृतेन कर्मणा स्त्रींगर्भः कर्तुमाक्षिप्तस्तदा पुरुषप्रयत्ने सत्यपि पुंगर्भः कर्तुं न शक्यते। तस्मात् पुंसवनमनर्थकमेवेत्याशङ्का—बलीत्यादि। इसका सारांश यही है कि बलवान् प्रयत्न करने पर दैवदत्त लिङ्ग में भी परिवर्तन हो सकता है। इस वक्तव्य में पुंसवन, उसका औचित्य, तथा कर्म-कालों का सम्यक् वर्णन हो चुका है। चरक में भी यह वर्णन है।

पुंसवनादिप्रयोग—

पुष्ये पुरुषकं हैमं राजतं वाऽथवाऽऽयसम् ॥ ३८ ॥
कृत्वाऽग्निवर्णं निर्वाप्य क्षीरे तस्याञ्जलिं पिबेत् ॥
गौरदण्डमपामार्गजीवकर्षभसैर्यकान् ॥ ३९ ॥
पिबेत् पुष्पे जले पिष्टानेकद्वित्रिसमस्तशः ॥
क्षीरेण श्वेतबृहतीमूलं नासापुटे स्वयम् ॥ ४० ॥
पुत्रार्थं दक्षिणे सिञ्चेद् वामे दुहितृवाञ्छया।
पयसा लक्ष्मणामूलं पुत्रोत्पादस्थितिप्रदम् ॥ ४१ ॥
नासयाऽऽस्येन वा पीतं वटशुङ्गाष्टकं तथा।
ओषधीर्जीवनीयाश्च बाह्यान्तरुपयोजयेत् ॥ ४२ ॥

पुष्य नक्षत्र में स्वर्ण, रजत, अथवा लोह का पुरुषक (प्रतिमा-पुतला) बनाकर अग्नि में तपाकर रक्त तप्त करके दुग्ध की एक अञ्जलि (चार पल) मात्रा में पीवे। पुष्य नक्षत्र में श्वेत मण्डल वाले अपामार्ग, जीवक, ऋषभक, तथा सैर्यक (सहचर)—इन चार द्रव्यों को पानी के सात दो-दो अथवा तीन-तीन या एक-एक पीसकर पीवे। दूध में श्वेत बृहती का मूल स्वयं पीस कर नासापुंट में डालना चाहिए। यदि पुत्र की इच्छा हो तो दक्षिण नासा-छिद्र में तथा कन्या की इच्छा हो तो स्त्री के वाम नासा में डालना चाहिये। दुग्ध के साथ लक्ष्मणामूल को पीस कर पान अथवा नस्य के द्वार सेवन करने से पुत्रोत्पत्ति तथा स्थिति होती है। इसी तरह वट के आठ अंकुरों को दूध में पीस कर नासिका

या मुख द्वारा सेवन करे। इसी तरह जीवनीय गण पठित दश औषधियों का स्नान, उद्वर्तन आदि बाह्योपचार से आहार क्वाथ आदि अन्तः-प्रयोग से उपयोग करे।

वक्तव्य—इन श्लोकों में पुंसवन कर्म स्वरूप का वर्णन हुआ है। नासयाऽऽस्येन वा—अर्थात् कभी नासिका द्वारा कभी मुख द्वारा। जिस स्त्री के पुत्र उत्पन्न होता है, अथवा उत्पन्न होकर ठहरता नहीं है या चिरजीवी नहीं होता है, उसको यह प्रयोग करना चाहिये। सैर्यक—सफेद फूलकी कटसरैया (हि) "सैरेयकः श्वेतपुष्पः सैरेयः कट-सारिका" (अ. प्र.)

वटशुङ्गाष्टक—"न्यग्रोधस्य प्रथमोद्भिन्नः प्ररोहो वटशुङ्गः" (अ. द.) शुङ्गं प्रथमोद्भिन्नं पत्रांकुरम् (इन्दु) प्रथमोत्पन्न अंकुर। इसके आठ अंकुर लेने चाहिये।" "पुत्रावस्थाचिन्त्यत्वादेतत् संख्यावच्छिन्नत्वम्।

यह विधि नस्य और पान-भेद से दो प्रकार से की जाती है। इसका विस्तृत वर्णन चरक तथा सुश्रुत में हुआ है। "कनकमयान् राजतानायसांश्च पुरुषकानग्निवर्णाननुप्रमाणान् दध्नि पयस्युदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिबेदनवशेषतः पुष्पेण . . . इत्यादि।

पुंसवन की अवधि बारह रात्रि तक है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। कुछ लोग युग्म दिनों में ही मानते हैं। कुछ विद्वान् प्रतिदिन करने का नियम मानते हैं। "द्वादशरात्रमित्यन्ये। तत्रापि युग्मदिनेष्विति केचित्। प्रत्यहमित्यपरे। (संग्रह) आचार्य डल्हण के मत से प्राप्तगर्भा स्त्री के लिए लक्ष्मणादि द्वारा नस्य गर्भ-स्थापनार्थ तथा पुत्रोत्पत्त्यर्थ गर्भ-धारण से तीन मास पूर्व ही पुंसवन के लिये करना चाहिये। "लब्धगर्भायाश्च लक्ष्मणादिनस्यदानं गर्भस्थापनार्थम्। मासत्रयाभ्यन्तरे पुत्रापत्यजननार्थं नस्य-दानम्।" यह कर्म गर्भ में गति होने के पूर्व ही करना चाहिये। क्योंकि इस संस्कार का प्रधान उद्देश्य क्षेत्र का संस्कार ही है, तथा इस को एक बार ही करना चाहिये प्रति गर्भ में नहीं करे। जैसा कि देवल के वचन हैं—

"पुंसवनाख्यं कर्म गर्भचलनात् पूर्वम् । एते च पुंसवनसीमन्तोन्नयने क्षेत्रसंस्कारकर्मत्वात् सकृदेव कार्ये, न प्रतिगर्भम् । यथाह— देवलः—

सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता ।
यं यं गर्भं प्रसूयेत स सर्वः संस्कृतो भवेत् ।

(याज्ञवल्क्यस्मृति १।१२)

संग्रह में—इस प्रकरण में "यच्चान्यदपि ब्राह्मणा वृद्धस्त्रियो वा ब्रूयुस्तच्चं कुर्यात्... वृद्धस्त्रीग्रहणगार्भिण्यां हेयोपादेयतत्फलानामनुभावाभ्यासे न परिज्ञानविशेषप्रदर्शनार्थं नतु सामान्येन वृद्धस्त्रीवचनस्यानुष्ठेयत्वम् । तथैव ब्राह्मणवचनं श्रौतस्मार्तविधानोपलक्षणार्थम् । इनसे स्पष्ट प्रतीत होता है यह संस्कार परम महत्व का है । वैद्य समाज में इसका प्रचार भी होना चाहिये ।

उपचारः प्रियहितैर्भर्त्रैर्भृत्यैश्च गर्भधृक् ।
नवनीतघृतक्षीरैः सदा चैनामुपाचरेत् ॥ ४३ ॥

प्रिय-अभिलषित तथा हित-पथ्य आहार-विहारों से पति या भृत्यों द्वारा किया हुआ उपचार गर्भ धारण कराने वाला होता है । मक्खन, घृत और दूध सदा खानेमें लेने चाहिये ।

वक्तव्य—सगर्भ स्त्री के साथ सौम्य आकृति, सौम्य वचनों तथा उपचार एवं सौम्य चेष्टा और प्रिय-हितकारी व्यवहार करने वाले परिचारक तथा पति होने चाहिये । ऐसा करने से गर्भ को हानि नहीं पहुँचती है ।

प्रमाणसंग्रह

१ व्याधींश्चास्या मृदुमधुरशिशिरसुखसुकुमारोपायैरौषधाहारोपचारैरुपचरेत् । (च० शा० ८)

२ सौम्याकृतिवचनोपचारचेष्टाश्च प्रियहितवर्तिनः परिचारकास्तथा भर्तेति । (वृ. वा. शा. १)

सौम्याकृतियुक्ताः परिचारका भर्ता व गर्भस्थापनम् । (इन्दु)

३ गर्भसमानयोगक्षेमा हि गर्भिणी भवति । तस्माद् विशेषतस्तां प्रियहिताभ्यां गर्भोपघातकरेभ्यो रक्षेत् । (वृ. वा. शा. २)

अतिव्यवायमायासं भारं प्रावरणं गुरु ।
अकालजागरस्वप्नं कठिनोत्कटकासनम् ॥ ४४ ॥
शोकक्रोधभयोद्वेगवेगश्रद्धाविधारणम् ।
उपवासाध्वतीक्ष्णोष्णगुरुविष्टम्भिभोजनम् ॥ ४५ ॥
रक्तं निवसनं श्वभ्रकूपेक्षां मद्यमामिषम् ।
उत्तानशयनं यच्च स्त्रियो नेच्छन्ति तत्त्यजेत् ॥ ४६ ॥
तथा रक्तस्रुतिं शुद्धिं बस्तिमामासतोऽष्टमात् ।
एभिर्गर्भः स्रवेदामः कुक्षौ शुष्येन् म्रियेत वा ॥ ४७ ॥

गर्भिणी स्त्री—अतिव्यवाय, अतिश्रम, भार उठाना, वजनदार वस्त्र ओढना, असमय में जागना या सोना, कठिन या उत्कटासन, शोक, क्रोध, भय, उद्वेग उपस्थित वेग का रोकना, श्रद्धा का रोकना, उपवास, मार्ग गमन, तीक्ष्ण, उष्ण, गुरु, विष्टम्भि भोजन, रक्तवस्त्र, श्वभ्र, कूप का देखना, मद्य, मांस, उत्तान शयन (चित्त लेटना) जिन को स्त्री पसन्द नहीं करती हो उन को त्याग दे । रक्तस्रुति, वमनविरेचन रूप शुद्धि, बस्ति इन को अष्टम मास तक प्रयोग में नहीं लावे । इन्हीं कर्मों के करने से आम गर्भ का स्राव हो जाता है अथवा गर्भाशय में सूख जाता है तथा मृत्यु भी हो जाती है ।

वक्तव्य—इन श्लोकों में गर्भिणी-परिचर्या (सगर्भा के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना) तथा स्वस्थवृत्त का वर्णन किया गया है । गर्भिणी सद्वृत्त का तात्पर्य है—गर्भावस्था में अपनी तथा गर्भ की रक्षा की दृष्टि से प्रसूतिकर्म दक्ष वैद्य के आदेशानुसार गर्भिणी का आहार-विहार और आचार का स्वकीय अनुष्ठान । माता के शारीरिक तथा मानसिक गुण-दोषों का बुरा प्रभाव गर्भस्थित बालक पर अवश्य

पड़ता है, इसलिये पथ्यप्रद आहारविहार तथा आचार से गर्भिणी का स्वास्थ्यरक्षण, गर्भिणी स्त्रीको स्वास्थ्य-रक्षा में बालक-विनाशकारी कारणों का त्याग, रोगिणी का रोगोपशमन, प्रसवकालीन रोगों का अभाव होकर सन्तान की उत्पत्ति के साथ स्त्री का भी स्वास्थ्य उत्तम रहता है। इस-लिये इस स्वस्थवृत्त पर ध्यान देना चाहिये। व्यवाय के त्याग के विषय में श्रीवाग्भट्ट ने एकान्ततः व्यवाय का निषेध न कर के, 'अतिव्यवायं त्यजेत्' ऐसा मध्यम मार्ग का निर्देश किया है। स्मृति ग्रन्थों में षण्मास.तक व्यवाय करने से धर्म की हानि नहीं होती है, ऐसा भी लिखा है। सुश्रुत ने, तदा प्रभृति व्यवायं व्यायाममतितर्पणमतिकर्शनं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणम्' इत्यादि (शा. ३–१६) से सर्वथा निषेध किया है। यह उचित भी है, क्यों कि व्यवायादि कर्म गर्भिणी के लिये एकान्ततः अहितकर होते हैं। इसलिये इन का सेवन कदापि नहीं करना चाहिये।

अतिव्यवाय से–स्त्रियों के जननेन्द्रिय की तरफ रक्तप्रवाह अधिक हो जाता है, इस से गर्भस्राव एवं गर्भपात की शंका बनी रहती है।

साधारण स्वस्थ पुरुष के लिये भी अतिव्यवाय एवं अतिव्यायामादि का निषेध है। यह तो सगर्भा अवस्था है।

व्यायामजागराध्वस्त्रीहास्यभाष्यादिसाहसम्।
गजं सिंह इवाकर्षन्, भजन्नति विनश्यति॥
(वा. सू. २–१४)

ब्रह्मचर्यमायुष्याणां श्रेष्ठम् (चरक)

व्यायामः–आयामो विविधोऽङ्गानां व्यायाम इति संज्ञितः। इति। शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम्, (सुश्रुत)

एकान्ततः पथ्यतम वस्तुओं में आहार, ब्रह्मचर्य तथा रात्रिस्वप्न शरीर के लिये उपस्तम्भ होते हैं—

'आहारशयनाऽब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः' ।

शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः । (अष्टांगहृदय)

१ तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत् । (चरक) माता च गर्भे प्रधानं कारणम् ।

येन आनिषेकात् प्रभृति प्रसवपर्यन्तं मातुरेव गुणदोषावनुविदधाति गर्भः— (चक्रपाणिः) ।

२ षण्मासान् कामयेन्मर्त्यो गुर्विणीमेव वै स्त्रियम् । अदन्तजननादूर्ध्वमेवं धर्मो न हीयते । (अत्रि) ।

३ गर्भिणीं नोपेयात् प्रमदां नरः गर्भिण्यां गर्भ-पीडा स्यात् । (सु० नि०)। व्यवायशीला दुर्वपुषमह्रीकं स्त्रैणं वा । (च०) आयास-परिश्रम। चरक तथा अष्टाङ्गसंग्रह के मत से दारुण–अत्यन्त अनुचित शारीरिक कर्म नहीं करने चाहिए, जो अधिक परिश्रम वाले हों जैसे— दौडना कूदना आदि। जिन से श्रम अधिक हो, हृदय में धडकन हो । गर्भ में स्फुरण हो ऐसा श्रम कभी भी नहीं करना चाहिये । साधारणतया घर के काम, चलना-फिरना, स्वच्छ वायु सेवन आदि साधारण श्रम सगर्भा के लिये स्वास्थ्यप्रद हैं । इन कर्मों से शरीर में हल्कापन रहता है । मांसपेशियाँ कार्यक्षम तथा कष्टसहनशील होने से प्रसव के समय कष्ट कम होता है । फलतः सगर्भा को आलसी होकर नहीं रहना चाहिये । " दारुणानुचितव्यायामसेविन्याः " (च०) । समासतः दारुणाश्च चेष्टाः (वृ० वा०)। प्रावरणम् प्रावरः । प्राव्रियतेऽनेनाङ्गम् । घनः पटः । कार्पासो रोमवान् घनः पटस्तूलकादिरित्यरुणदत्तः (सु० उ०)। वर्णकम्बलमिति पदार्थचन्द्रिका । गुरु प्रावरणं कंबलादि इति चक्रपाणिः । द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ । (इत्यमरः)। उत्कटकासनपाद और सक्थि के बल बैठना अवसक्थिकासन (Squatting), उकड़ू बैठने से मूलाधार पीठ (भगपीठ Perinaeum) पर दबाव पडता है, जिस से योनिद्वार विवृत हो जाता है। इस से गर्भस्राव एवं गर्भपात होने का भय रहता है,

" गुदपार्ष्णिसमायोगः प्राहुरुत्कटकासनम् "। इसीलिये कठिनासन भी वर्ज्य है। शोक-क्रोध-भय आदि-गर्भिणी ऐसे कर्म नहीं करे, न सुने, न देखे जिनसे चित्त में शोक, क्रोध, भय, उद्वेग आदि मानसिक विकृतियों की उत्पत्ति हो " दुर्दर्शनानि परिहरेत्। उद्वेजनीयाश्च कथाः। क्रोधभयसंकरांश्च भावान् परिहरेत् (सु० शा० १०)। वेगविधारण—मलमूत्र आदि के वेगों को रोकना। इनके वेगों को नहीं रोकना चाहिये। इनके वेगविधारण से नानाविध व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इसके लिये " न वेगान् धारणीय " स्वतंत्र अध्याय ही संहिताग्रन्थों में हैं। अधश्चोर्ध्वञ्च भावानां प्रवृत्तानां स्वभावतः। न वेगान् धारयेत् प्राज्ञो वातादीनां जिजीविषुः (सु०)।

श्रद्धाविधारण—गर्भवती की जो इच्छा उत्पन्न हुई हो उसकी पूर्ति करना। " तस्मात् सा यद् यदिच्छेत् तत्तस्यै दापयेत्। लब्धदौर्हृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषञ्च पुत्रं जनयति। (सु० उ० ५५ अ०)

उपवास—गार्भिणी उपवास नहीं करे। क्योंकि इसके भोजन से अपना तथा गर्भ का पोषण होता है, इसलिये आवश्यक आहार का सेवन करना ही चाहिये।

भोजन—तीक्ष्ण, उष्ण, गुरु, विष्टम्भि भोजन करने वाली स्त्री के कुक्षि में ही गर्भ मर जाता है अथवा वह गर्भ अकाल में ही गिर जाता है, अथवा उचित काल के पूर्व ही गर्भपात हो जाता है, या वह अन्दर ही शुष्क हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि तीक्ष्ण उष्ण पदार्थ युक्त भोजन प्रायः विदाही होते हैं। इनके सेवन से हृत् प्रदेश में दाह तथा बेचैनी हो जाती है। इसलिये चरक-सुश्रुत तथा संग्रह में भी विदाही द्रव्यों का गार्भिणी के लिये निषेध किया है। " विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम्। हृदि दाहञ्च जनयेत् पाकं गच्छति तच्चिरात् "। (भावप्रकाश)

बस्ति शब्द से आस्थापन तथा अनुवासन अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि "मासान् सप्त च गर्भिणी। अनास्थाप्या" (अ. हृ. सू. १९ अ०)

केवल अष्टम मासतक आस्थापन और अनुवासन का त्याग है।"
" केवलं त्वष्टममासमुपादायास्थापनमनुवासनं वा । " (अ. संग्रह शा० २ अ०) इति

भोजन के विषय में वस्तुतः देखा जावे तो गर्भिणी का आहार और आचार विशेष महत्व का होता है, क्योंकि उसको अपना तथा गर्भ का पोषण करना पडता है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि गर्भवती के पाचक अङ्गों, वृक्क, त्वचा, फुफ्फुस आदि मलोत्सर्जन के अवयवों को बहुत काम करना पडता है। विशेष करके वृक्कों को, इसलिये आहार, सुपाच्य, सुशोष्य तथा पौष्टिक होना चाहिये। इन सब पदार्थों में ऐसे गुण विशेष होने चाहिये, जिन से मलमूत्र का अच्छी तरह त्याग हो तथा शरीर में विषमय पदार्थों का सञ्चय न हो, जिससे इस अवस्था में या प्रसवोत्तर होने वाली व्याधियों का भय न हो। नव्यमत से सुधा (चूना, केल्सियम, स्फटिक) जीवतिक्ति (विटामीन्स ए. बी. सी. डी) अधिक मात्रा में खाद्य द्रव्यों में होनी चाहिये। गर्भ अपने पोषण के लिये सभी वस्तुएँ माता के अन्नरस से ग्रहण करता है। यदि माता के आहार में "ए" विटामीन्स की कमी होगी तो उस को औपसर्गिक रोग Infective or malignant होने की आशंका रहेगी। यदि माता के आहार में सुधा-भाग अल्प होगा तो गर्भ माता की अस्थियों तथा दांतों से इस स्फटिक की कमी को पूरा करेगा। ऐसा करने से माता को अस्थि मृदुता, कृमिदन्त आदि अस्थि की कमी से होने वाले विकार होने की सम्भावना है। इसी तरह "बी" जीवतिक्ति की कमी से गर्भस्राव, गर्भपात, प्रसव, मृतशिशुजन्म आदि आपत्तियाँ होने की शंका बनी रहती है। एवमेव जीवद्रव्य "डी" की आहार में कमी रहने से खटिक की मात्रा रहने पर भी अस्थिविकास में उसका उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि खटिक के सात्मीकरण के लिये "डी" की परमावश्यकता है। इन सब बातों का विचार करके ही हमारे आचार्यों ने आहार में मक्खन, घृत, क्षीर, मधुर, स्निग्ध आदि से सदा बृंहण करने का आदेश दिया है—

"बृंहयेत् सूतिकाबालवृद्धान्। मांसक्षीरसितासर्पिमधुरस्निग्ध-बस्तिभिः।" (वृ० वा०) गर्भस्त्वामगर्भेण। (आप्यायते) (चरक शा० ६) गर्भस्त्वामगर्भेण इत्यत्र—आमगर्भाण्डादिरूपेण समुदितानां मांसादीनां सम्यगनिष्पन्नानां च वृद्धिरुच्यते। (चक्रपाणि)

निषिद्ध आहार और कुछ द्रव्यों के अतियोग के विषय में चरक में बहुत विशद वर्णन है—मद्यनित्यापिपासालुमल्पस्मृतिमनवस्थितचित्तं वा......तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत् (च० शा० ८)

गर्भधारण के अनन्तर गर्भिणी के शरीरगत सभी अवयवों में परिवर्तन भी हो जाते हैं, उनके कार्य भी बढ जाते हैं। प्रकृति की तरह से यह गर्भिणी शरीर को नूतन परिस्थिति के अनुकूल बनाने का प्रयत्न है। इस समय योग्य आहार रखनेपर प्रकृति की सहायता हो सकती है तथा गार्भिणी का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहने पर ही स्वस्थ, सुदृढ और सत्वशील सन्तान उत्पन्न होती है। प्रत्येक गार्भिणी को स्वस्थवृत्त के भिन्न-भिन्न नियमों का ज्ञान उनके पालन का महत्वपूर्ण ज्ञान होना चाहिये। "पूर्णमिव तैलपात्रमसंक्षोभयताऽन्तर्वत्नी भवत्युपचर्या" (च० शा० ९) गर्भिणी-स्वस्थवृत्त तथा गार्भिणी-चिकित्सा के विषय में चरकसंहिता में अत्यन्त महत्वपूर्णवर्णन है। इन्हीं श्लोकों के अनुसार गार्भिणी का आहार-विहार का वर्णन हुआ है। मद्य सर्वथा वर्ज्य है, मल स्वरूप पदार्थों का शरीर से उत्सर्ग बढाने के लिये जल की मात्रा अधिक बढानी चाहिये। भिन्न-भिन्न ताजे फल और हरे साग-सब्जी का नियम से अधिक सेवन करना चाहिये। पाचन प्राकृतिक हो तो आमगर्भ का सेवन करना चाहिये। इन पदार्थों के सेवन से स्वास्थ्य के लिये तथा गर्भवृद्धि के लिये आवश्यक सभी पदार्थ जैसे—जान्तव प्रोटीन, केल्सियम क्लोराइड, लोह, फॉस्फरस आदि खनिज द्रव्य तथा विटामिन्स पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं।

काश्यप ने बहुत ही विशद वर्णन किया है—

यानि द्रव्याणि पुण्यानि माङ्गल्यानि शुचीनि च ।
नवान्यभग्नखण्डानि पुन्नामानि प्रियाणि च ॥ १ ॥
गर्भिण्यैतान्युपहरेद् वासांस्याभरणानि च ।
न स्त्री नपुंसकाख्यानि धारयेद् वा लभेत वा ॥ २ ॥
धूपितार्चितसंमृष्टं मशकाद्यपवर्जितम् ।
ब्रह्मघोषैः सवादित्रैर्वादितं वेश्म शस्यते ॥ ३ ॥
प्रातरुत्थाय शौचान्ते गुरुदेवार्चने रता ।
अर्चेदादित्यमुद्यन्तं गन्धधूपार्चनाजपैः ॥ ४ ॥
क्षीयमाणं च शशिनमस्तं यान्तं च भास्करम् ।
न पश्येद् गर्भिणी नित्यं नाप्युभौ राहुदर्शने ॥ ५ ॥
सोमार्कौ सग्रहौ श्रुत्वा गर्भिणी गर्भवेश्मनि ।
शान्तिहोमपराऽऽसीत मुक्तयोगं च याचयेत् ॥ ६ ॥
न द्विष्यादतिथिं भिक्षां दद्यान्न प्रतिवारयेत् ।
स्वयं प्रज्वलिते चाग्नौ शान्त्यर्थं जुहुयाद्घृतम् ॥ ७ ॥
पूर्णकुम्भं घृतं माल्यं पूर्णपात्रं घृतं दधि ।
न किञ्चित् प्रतिरुन्धीयान्न च बध्नीत गर्भिणी ॥ ८ ॥
सूत्रेण तनुना रज्ज्वा स्तम्भनं बन्धनानि च ।
वर्जयेद् गर्भिणी नित्यं कामं बन्धान्विमोक्षयेत् ॥ ९ ॥

(जातिसूत्रीयशारीरम्)

नित्यं स्नाता च हृष्टा च शुक्लवस्त्रधरा शुचिः ।
देवविप्रपरा सौम्या गर्भिणी पुत्रभागिनी ॥ १ ॥
नैवोन्नता न प्रणता न गुरुं धारयेच्चिरम् ।
उद्वेजनं तथा हास्यं सङ्घातं चापि वर्जयेत् ॥ २ ॥

(गर्भिणीचिकित्सितम्)

बहुपुत्रामनन्तां च ईश्वरीं मुदितां तथा।
ब्राह्मीं च सहदेवीं च तथा चैवेन्द्रवारुणीम् ॥ १ ॥
जीवकर्षभकौ भार्गीं समङ्गां च तथैव च।
रोहपादान् वटशुङ्गानात्मगुप्तां तथैव च ॥ २ ॥
अरिष्टपूतनां केशीं शतवीर्यां च पार्थिव।
सहस्रवीर्यां चैतानि प्राजापत्येन संहरेत् ॥ ३ ॥
सन्दधेदथ पुष्पेणी धारयेदुत्तरेषु च।
त्रैवृतं तु मणिं कृत्वा तं श्रोण्यां गर्भिणी सदा ॥ ४ ॥

अन्तर्वत्नीचिकित्सितम्

वातलैश्च भवेद् गर्भः कुब्जान्धजड़वामनः।
पित्तलैः खलतिः पिंगः, श्वित्री पाण्डुः कफात्मभिः ॥ ४८ ॥

वायुकारक पदार्थों के अधिक सेवन से गर्भ कुब्ज (कुबडा) अन्ध, जड या वामन हो जाता है। पित्तकारक पदार्थों के अधिक सेवन से गंजा या पिङ्गल वर्णवाला होता है। कफकारक पदार्थों के अधिक सेवन से श्वित्र तथा पाण्डु रोग हो जाता है।

वक्तव्य—यह विषय वृद्ध वाग्भट तथा चरक-सुश्रुत में दौर्हृद विमान प्रकरण में वर्णित है। इन तीनों आचार्यों का एक ही मत है कि गर्भावस्था में स्त्री के मन में विशेष प्रकार की वासनाएं उत्पन्न होती हैं, उनकी पूर्ति न करने से साधारण बातों पर ही माता के मन पर बडा भारी दुष्परिणाम होने की संभावना रहती है, इसलिये चरक ने कहा है—श्रद्धाविघात से वायु प्रकुपित होकर शरीर के भीतर प्रवेश कर के गर्भ को विनाश, अथवा वैरूप्य (कुब्जादि) करता है। इच्छाविघात से मनः-क्षोभकर भय की तरह वात प्रकोप होता है।

"प्रार्थनासन्धारणाद्धि वायुः प्रकुपितोऽन्तःशरीरमनुचरन् गर्भमापद्यमानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्यात्। (चरक)। इच्छाविघातश्च मनःक्षोभकरभयादिकर्तृत्वाद् वातप्रकोपको भवति। (चक्रपाणि)।

अष्टांगहृदय तथा संग्रह में चरक सुश्रुत से यह विशेष दोषानुसार वर्णन किया है। यद्यपि चरक-सुश्रुत ने भी इसी विषय को प्रकरणान्तर में "माता के आहार-विहार दोषों से" इन विकारों का वर्णन भी किया है।

बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः ।
कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि ।
वर्षासु काष्ठाश्मघनाम्बुवेगास्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य ।
यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः ।

(च. शा. २)

इसीलिये चक्रपाणि ने भी माता को गर्भ में प्रधान कारण बतलाया है, तदनुसार गर्भाधान से लेकर प्रसवकाल पर्यन्त माता के आहार-विहारजन्य दोषों का ही गर्भ पर प्रभाव पडता है। याज्ञवल्क्य-स्मृतिकार ने भी इसी का समर्थन किया है—

कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च ।
गर्भस्थवैकृतं दुष्टमङ्गहीनादि जन्मतः । (३।१६९)

कुब्ज—स्नायुस्थित विकृत वायु से होने वाला रोग ।

"सबाह्याभ्यन्तरायामं खल्वीं कौब्ज्यमथापि वा ।
कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः । (च. चि. २८)

कुब्जत्वञ्च शिरागतवातविशिष्टत्वात् केचिदायामान्तर्गत इत्याहुः । अन्ध, दृष्टिनाश । जड,—मन्दमति । श्वित्र (श्वेत कुष्ठ) पाण्डु-श्वेतवर्णता श्वेतावभासता ।

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद्दुष्टः समीरणः । (चरक)

वामन—गर्भाशयस्थ शुक्रार्तव में वातप्रकोप होना तथा गर्भस्थ शिशु की पुष्टि के अभाव में शरीर की वामनस्थिति बन जाती है ।

वामनत्वमिति—दुष्टशुक्रारब्धत्वात् गर्भावर्ते यथा युगलैकांगुली-बद्धं गुदादिकं भवति, तथाऽयमपि वामनयोगः । (शा. दी.)

यद्यपि पाण्डु उस रोग को कहते हैं, जिसमें रोगी का वर्ण श्वेत तथा पीत हो जाता है, क्योंकि आयुर्वेद में रञ्जकपित्त के विनाश को ही पाण्डु संज्ञा दी है। किन्तु यहाँ पर कफ कारक पदार्थों के अधिक सेवन से बालक का वर्ण श्वेतावभासता या श्वेतवर्णता ही लेना चाहिये। चरक ने कफज विकारों में श्वेतवर्णता ही लिया है! अन्यथा पाण्डुरोग पैत्तिक व्याधि होने से यह स्थल शङ्काग्रस्त बन जाता है। इसी तरह जड भी यद्यपि श्लैष्मिक विकृति है, तथापि वाताधिक्य द्रव्य-सेवन से भी पित्त तथा श्लेष्मा का नाश होने से हो सकता है; अन्यथा यह भी शङ्कास्पद हो जाता है। जडः स्तोकः श्रुतिः। खलतिः-निर्लोमशिरस्त्वम्। (इन्दु)

व्याधींश्चास्या मृदुसुखैरतीक्ष्णैरौषधैर्जयेत्।

गर्भिणी स्त्री के रोगों की मृदु-सुखप्रद-मृदुवीर्य औषधियों द्वारा चिकित्सा करें।

वक्तव्य—गर्भिणी के रोगों में विशेष करके मृदुवीर्य, मधुर, शीतल, सुकुमार औषध तथा उपचारों से चिकित्साकर्म करना चाहिये। इस अवस्था में वमन, विरेचन और शिरोविरेचन प्रभृति उग्र शोधन औषधों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। रक्तमोक्षण नहीं करे। अत्यधिक अवस्थाओं को छोडकर सभी समय आस्थापन और अनुवासन भी नहीं देने चाहिये। गर्भकाल में अष्टम मास से वमन, विरेचन साध्य रोगों में भी यदि अत्यधिक अवस्था हो तो मृदु वमन-विरेचन द्वारा अथवा तदर्थकारी प्रयोगों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। गर्भवती की उपमा तैलपूर्ण पात्र से दी जाती है। जैसे तैल से पूर्ण पात्र में थोडा-सा धक्का भी तैल को गिरा देता है। वही हालत गर्भ की है। गर्भकाल में किया गया थोडा संक्षोभ भी अन्तर्वत्नी के गर्भ तथा शरीर को हानि पहुँचा सकता है। इसलिये गर्भ की परिचर्या या चिकित्सा अत्यन्त सावधान पूर्वक होनी चाहिये।

"व्याधींश्चास्या मृदुमधुरशिशिरसुखैरौषधाहार-विहारैरुपाचरेत्। न चास्या वमनादीनि प्रयोजयेत्। न रक्तावसेचनम्। त्वष्टमं मासमुपादाया-

स्थापनमनुवासनं वा। वमनादिसाध्येषु पुनर्विकारेषु मृदुभिस्तदर्थकारिभिर्वोपक्रमेत्। पूर्णमिव तैलपात्रमसंक्षोभयद् गर्भिणीमुपाचरेदिति।

इत्यनात्यायिके व्याधौ विधिरात्ययिके पुनः।
तीक्ष्णैरपि क्रियायोगैः स्त्रियं यत्नेन पालयेत्। (वृ. वा. २ शा.).

द्वितीये मासि कललाद् घनः पेश्यथवाऽर्बुदम् ॥ ४९॥
पुंस्त्रीक्लीबाः क्रमात्तेभ्यः—

अर्थ—द्वितीय मास में कलल से घन, पेशी अथवा अर्बुद होता है। इनसे क्रमशः पुरुष-स्त्री तथा क्लीब होते हैं।

वक्तव्य—प्रथम मास (चार सप्ताह) में गर्भ कपोत के अण्डे के आयाम का होता है तथा बृहद् आकार के गर्भकोष में तैरता रहता है। गर्भ अपने अक्ष पर मुड़ा हुआ, शिर तथा पुच्छ मिले हुए रहते हैं। इसकी लम्बाई १.५ इञ्च (२ मि० मी०) एवं भार दश रत्ती का होता है। मस्तिष्क तथा सुषुम्ना मिले हुए कर्ण तथा नेत्र के बुद्बुद से दिखलाई पडते हैं। एवं शाखाओं के अंकुर भी निसृतवत् प्रतीत होते हैं। इसमें हृदय व्यक्त रहता है, इसमें कोष्ठ चतुष्टय का विभजन भी प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह के सद्असद् अवयवों के देखने से मनुष्य-गर्भ का ज्ञान होता है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में लिखा है कि गर्भ प्रथम मास में कलल का रूप लेता है और अव्यक्त (अस्फुट) उसका शरीर होता है। कुछ अङ्ग व्यक्त तथा कुछ अव्यक्त होते हैं।

द्वितीय मास (आठ सप्ताह) में गर्भ मुर्गे के अण्डे के बराबर एक इञ्च लम्बा और भार में तीस रत्ती का होता है। उसके सिर की बनावट मनुष्य सदृश होती है। पुच्छ विलीन हो जाती है और हाथ-पैर स्पष्ट होने लगते हैं। आँख, कान और नाक पहिचान में आने लगते हैं, बहिर्जननेन्द्रियाँ दिखलाई पडने लगती हैं, परन्तु लिङ्ग का भेद नहीं कर सकते। आयुर्वेदीय संहिताओं में भी एतादृश वर्णन पाया जाता है। लिखा है कि द्वितीय मास में शीत (कफ) ऊष्मा

(पित्त) और वायु से गर्भाशयगत महाभूतों का परिपाक होता है तब कललावस्थापन्न गर्भ घन रूप में परिणत होता है। इसका यह भी स्पष्ट अर्थ होता है कि—जैसे महाभूत माता के गर्भ में समागत रस-रक्त द्वारा गर्भ को प्राप्त होते हैं तथा उन के ऊपर कफ, पित्त और वात की क्रिया हो कर गर्भ की पुष्टि होती है। इसी आधार पर "वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः"। (सु० सू० २१) सार्थक होता है। यदि वह पिण्ड हो तो पुरुष, पेशी हो तो स्त्री और अर्बुद हो तो नपुंसक होता है[१]।

तत्र व्यक्तस्य लक्षणम्

क्षामता गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छा छर्दिररोचकः ॥ ५० ॥
जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम् ।
अम्लेष्टता स्तनौ पीनौ सस्तन्यौ कृष्णचूचुकौ ॥ ५१ ॥
पादशोफो विदाहोऽन्ये श्रद्धाश्च विविधात्मिकाः ।

व्यक्तगर्भा के लक्षण—कृशता, कुक्षि (उदर गर्भाशय) में भारीपन, मूर्च्छा, वमन, भोजन में अरुचि, जृम्भा, प्रसेक (लालास्राव) शरीर में शिथिलता, रोमाञ्च होना, खटाई खाने की इच्छा होना, स्तनों का मोटा तथा उनमें दूध का आना, चूचुक (स्तनों का अग्रभाग) कृष्णवर्ण होना, पैरों पर सूजन, अन्न का विदाह, परिपाक होना, अनेक प्रकार की पथ्य तथा अपथ्य वस्तु में श्रद्धा होना।

आयुर्वेद महर्षियों ने सद्योऽनुगत (अव्यक्त) गर्भ तथा पर्यागत गर्भ के सर्वतो भाव से आ जाने पर अर्थात् व्यक्त गर्भ के लक्षण इन श्लोकों में निर्दिष्ट किये हैं।

१—द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते—पिण्डः पेश्यर्बुदं वा, तत्र पिण्डः पुरुषः, स्त्री पेशी, अर्बुदं नपुंसकम्। (च० शा० ३)। द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः सञ्जायते। यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदम्। (सु० शा० ३)। पञ्चाशद् दिने सम्प्राप्ते—अंकुराणाञ्च सम्भवः। (हारीत)। "द्वितीये मासे घनः सम्पद्यते इत्यादि। किंवा तृतीये मासे अङ्गप्रत्यङ्गाभिव्यक्तेर्व्यक्तीभावो ज्ञेयः, द्वितीये तु मासे प्राम्यादिरूपे गर्भे प्रत्यङ्गव्यक्तीभावो न व्यक्तः"। (चक्रपाणि)

वक्तव्य—वृद्ध वाग्भट में रोमराजी के होने में यह युक्ति बतलाई है। प्रति मास स्त्री में गर्भाशय द्वारा रक्तस्राव होता रहता है। गर्भवती होने पर रक्तवाहिनी धमनियों के मुख बन्द हो जाने पर रक्त को उत्पन्न करनेवाली क्रिया तो होती ही रहती है। इसलिये रक्त प्रत्येक मास में आता ही है तथा शारीरिक परिवर्तन बना ही रहता है। किन्तु रक्तवाहिनियों के मुख बन्द होने से रक्त बाहर नहीं आता है। इसलिये नीचे रुकावट हो जाने से यह ऊपर की तरफ इकट्ठा हो जाता है। इसीको जरायु तथा अपरा भी कहते हैं। इस रक्त के रुक जाने से रोमराजी हो जाती है। अर्थात्—नाभि से ले कर योनि तक बालों की एक प्रकार की रेखा बन जाती है। "स्थिते तु रक्ते रोमराजी प्रादुर्भवति" इति। "जरायुशेषं चोर्ध्वमसृक् प्रतिपद्यते। तस्मात् पीनकपोलपयोधरता कृष्णौष्ठचूचुकत्वञ्च।" क्षामता—शरीर की कृशता। गर्भावस्था के प्रारम्भिक एक-दो महीनों में विशेष करके वमन, क्षुधा की कमी, गर्भवृद्धि का भार आदि कारणों से शरीर में दुर्बलता आ जाती है, किन्तु कुछ महीनों के बाद ही जब गर्भ-धारण की सहन शक्ति हो जाती है तथा क्रमशः वमन आदि भी कम हो जाते हैं, तब वही सगर्भा पहले की अपेक्षा अधिक पुष्टता के साथ सौन्दर्ययुक्ता भी हो जाती है। यह वर्णन कविकुलमणि कालिदास ने सुदक्षिणा के वर्णन में किया है। गरिमा कुक्षौ—गर्भ की अधिक वृद्धि होने पर गर्भाशयश्रोणि मुख में नहीं रह सकने से क्रमशः ऊपर आ जाने से उदर की भी वृद्धि हो जाती है। छर्दि—यह प्रायः दूसरे मास में प्रारम्भ होती है और चतुर्थ-पञ्चम मास तक चालू रहती है। वमन प्रायः प्रातःकाल ही पित्तरञ्जित श्लेष्मा का ही होता है, साधारणतया प्रातःकाल वमन हो जाने के बाद पुनः दिन में नहीं होता है। कई स्त्रियों में प्रातःकाल न हो कर सायंकाल में होता है। अरोचक—स्वाभाविक द्रव्यों के लिये अरुचि। प्रसेक—आस्यसंस्रवणं (च)। गर्भस्थिति के कारण पचन-संस्थान में खलबली मचने से मुख में जल भर जाता है। अम्लेष्टता—खट्टे पदार्थों के साथ

अस्वाभाविक द्रव्य—मिट्टी, चूना आदि में रुचि होना। यह लक्षण प्रायः–द्वितीय मास में उत्पन्न होते हैं। स्तनौ पीनौ—स्तनगत यह परिवर्तन क्षेत्र जनन स्रावजन्य प्रभाव के कारण होता है। इसके परिणामस्वरूप रक्त-सञ्चरण बढ़ जाता है तथा स्तनगत ग्रन्थियां अधिक कार्यशील होने लगती हैं, जिससे स्तन पुष्ट होने लगते हैं तथा स्तन का आयाम बढ जाता है। इस स्तन-वृद्धि के तीन कारण हैं—(१) रक्त—सञ्चार की अधिकता, (२) दुग्धग्रन्थियों की अत्यन्त वृद्धि, (३) सौत्रिक धातु और मेद की अधिकता से वृद्धि[१]। सस्तन्यौ[२]–स्तनों के दबाने से एक गाढा द्रव (पीयूष-खीस) निकलता है, यह स्तनों में होने के कारण स्तन्य कहा जाता है। "स्तनयोर्भवं स्तन्यम्"। यह तीसरे मास की आखिरी से चतुर्थ-पञ्चम मास में आता है। यह प्रारम्भ में स्वल्प तथा पतला होता है, उत्तरोत्तर गाढा पीत वर्ण का तथा अधिकाधिक मात्रा में निकलने वाला होता है। इसका संगठन–जल, मेद, शुक्ति, लवण तथा पीयूष द्रव्यों का होता है। कृष्णचूचुकौ[३]—स्तन वृद्धि के साथ ही चूचुक भी बढ जाते (मोटे होते) हैं तथा प्रहर्षयुक्त। इनके चारों तरफ का मण्डल उभर आता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गर्भाशय और स्तनों का अत्यधिक सम्बन्ध है। गर्भाशय के परिवर्तन के साथ-साथ स्तनों में भी परिवर्तन होने लगता है। पादशोफ—रक्त में रक्तकणों की कमी से तथा जल की अधिकता से पादों में सूजन हो जाता है। यद्यपि सगर्भावस्था में गर्भ, गर्भाशय, स्तन आदि अङ्गों की वृद्धि के लिये माता के शरीर में रक्त की राशि अधिक होती है, किन्तु जब रक्त में लाल कण कम हो जाते हैं, जब रक्तता बढ़ जाती है, तब सूजन आता है। विदाह—अन्न का ठीक परिपाक न होने से। यह अजीर्ण से होता है।

१–तस्माद् गर्भिण्यः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति। (सु० शा० ४)

२–धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः। तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनाञ्च ताः पुनः। स्वभावादेव विवृता जायन्ते। (सु० नि० अ० १०)

३–स्तनयोः कृष्णमुखता। (सुश्रुत)

इस अवस्था में अजीर्ण होना स्वाभाविक है। गर्भावस्था के अन्तिम मासों में जब कि गर्भाशय का वजन आमाशय तथा अन्त्र-प्रदेश पर पड़ने लगता है, उसी समय विशेषतः रात्रि में अजीर्ण की सम्भावना होती है। एक यह भी ध्यान में रखने की बात है कि स्वभावतः सगर्भावस्था में अम्लता रहती है, इससे भी विदाह होना सम्भव है। इसीलिये गर्भिणी को नवनीत, घृतादि देने का आदेश है। चरक में भी आहार-आचार पर विशेष ध्यान देने के लिये कहा है।

श्रद्धाश्च विविधात्मिकाः—इसी लक्षण का निर्देश अष्टाङ्गसंग्रह तथा चरक में भी सामान्य रूप से आया है।

गर्भ रहने पर विविध अङ्गों में होनेवाले परिवर्तन निम्न प्रकार के होते हैं—

(१) उदर या गर्भाशय "गर्भो जठराभिवृद्धिम्" गर्भ से उदर की वृद्धि होती है।

(२) योनि—"आर्तवादर्शनम्। योन्याश्च चाटालत्वम्"। आर्तव नहीं आता है और योनि में (गर्भाशय में) चाटालत्व (विवृतत्व) होना या वृद्धि होना।

(३) योनि से स्राव होना गर्भाशय से। क्योंकि मृत गर्भों के लक्षण में योनि का स्राव नहीं होता है। ऐसा चरक ने शा० अध्याय ८ में बताया है। उससे सिद्ध होता है कि जीवित गर्भ में योनि का स्राव होता है।

(४) स्तन—

"स्तनयोः स्तन्यमोष्ठस्तनमण्डलयोः कार्ष्ण्यमत्यर्थम्।"

(च० शा० ४)

"तस्माद् गर्भिण्यः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति।" (सु० शा० अ० ४)

स्तनों में दुग्ध का प्रादुर्भाव होता है। ओष्ठ और स्तनमण्डल कृष्ण वर्ण को प्राप्त होते हैं। गर्भाशय से आर्तव का स्राव रुकने से गार्भिणी के स्तन पुष्ट एवं उन्नत होते हैं।

(५) त्वचा "रोमराज्युद्गमः"। (सु० शा० अ० ३)

ततः कण्डुः प्रजायते। कण्डुमूला हि किक्विसावाप्तिः।

(च० शा० ८)

त्वचा पर रोमाञ्च खडे होते हैं और उसमें खुजली होती है। खुजली के कारण किक्विस पैदा होता है, अर्थात् चर्म पर सफेद लकीरें पैदा होती हैं।

(६) वर्णहानि और शिथिलता लक्षित होती है।

(७) नाडी संस्थान—"आस्यस्रवणमनन्नाभिलाषा, छर्दिः, अरोचकत्वम्, अम्लकामता दौहृदजानि।" मुख से पानी आता है, अन्न से रुचि हटती है, वमन होता है और खट्टे पदार्थों के ऊपर इच्छा होती है।

(८) मूत्राशय और मलाशय—"अभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिः, मूत्रं प्रसिच्यते। (सु० शा० अ० १०)। पुनः-पुनः शौच आता है और मूत्र भी आने लगता है।

(९) सामान्य परिवर्तन—"गुरुगात्रत्वं, चक्षुषो ग्लानिः ईषत् श्वयथुः पादयोः, कार्श्यं बलवर्णहानिरतिशयेन क्लान्तिश्च (च० शा० ८)। हाथ पैरों में गुरुता मालूम होती है, आँखों में ग्लानि, पैरों में सूजन, कृशता, शारीरिक शक्ति और क्लान्ति भी कभी होती है तथा थकावट भी मालूम होती है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि गार्भिणी-निदान करते समय गर्भिणी के भिन्न-भिन्न लक्षणों तथा चिह्नों को निम्न तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। यथा—

(१) अनैकान्तिक लक्षण तथा चिह्न ।

(२) निश्चयात्मक संशयोत्पादक चिह्न ।

(३) गर्भ निश्चितिकर चिह्न ।

अनैकान्तिक लक्षण तथा चिन्ह

१—**रजोऽवरोध**—जिन स्त्रियों में मासानुमासिक रजःस्राव प्राकृतिक होता रहता है, उनमें नियत समय पर रजःस्राव न होने पर गर्भ धारण की आशंका होती है । परन्तु चिकित्सक को केवल इसी लक्षण से गर्भधारण का अनुमान करने में विशेष सावधानी रखना आवश्यक है, क्योंकि रजोऽवरोध यह लक्षण अन्य अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकता है और इन कारणों से चिरकालीन रजोऽवरोध होते हुए भी कभी-कभी गर्भधारणा देखी जाती है । निम्न भिन्न-भिन्न कारणों से रजोऽवरोध हो सकता है—

(१) स्त्री राजयक्ष्मा या तत्सदृश अन्य तीव्र बल-मांस विहीनत्व करनेवाले रोग से या पाण्डु रोग से पीडित हो ।

(२) नव-विवाहिता स्त्रियों में कभी-कभी कुछ काल तक रजोऽवरोध देखा जाता है ।

(३) गर्भधारण के अत्यधिक भय से तथा चिरकालीन वन्ध्या स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति की तीव्र इच्छा से भी, कुछ काल तक रजोवरोध देखा जाता है ।

(४) स्त्रियाँ जितने महिनों तक बच्चों को स्तन पान कराती हैं तब तक प्रायः मासानुमासिक रजःस्राव नहीं होता, परन्तु इस काल में गर्भ धारण होते देखा गया है ।

(५) रजःक्षय की आयु में रजोऽवरोध होता है, परन्तु रजःक्षय के बाद और प्रथम रजोदर्शन होने के पूर्व भी गर्भधारण होने के उदाहरण हैं ।

(६) गर्भाशय के "पश्चात् भ्रंश" में तथा किसी कारणवश रजःस्राव का योनि-मार्ग में अवरोध होने से भी "रजोऽवरोध" होता है अर्थात् यह रजोऽवरोध का आभास ही है, क्योंकि गर्भाशय में मासानुमासिक रक्तस्राव होता ही है और इस समय धारणा भी हो सकती है।

जैसे उपर्युक्त कारणों से रजोऽवरोध होने पर गर्भ धारण का अनुमान करने में गलती हो सकती है, उसी प्रकार यहाँ भी ध्यान में रखना चाहिये कि कुछ अवस्थाओं में रजःस्राव देखते हुए भी गर्भधारण के विषय में या गर्भ की उपस्थिति या अनुपस्थिति के विषय में निश्चित मत देने में गलती हो सकती है। इस विषय में निम्न बातें ध्यान में रखना आवश्यक है—

(क) लगभग तीसरे महीने के अन्त तक गर्भाशय में कुछ खाली स्थान रहता है और इस कारण तीसरे महीने तक मासिक स्राव थोड़ी मात्रा में हो सकता है।

(ख) योनि-मार्ग से रक्तस्राव होना एक "गर्भस्राव" के पूर्व रूप का "समवायि लक्षण" माना जाता है और इस लक्षण को देखते हुए मासानुमासिक रजःस्राव की आशंका होना असम्भव नहीं है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भि महीनों में "रजोऽवरोध" या किञ्चित् रजःस्राव, इन लक्षणों को देखते हुए गर्भ की उपस्थिति या अनुपस्थिति के विषय में निश्चित विधान करना चिकित्सक के व्यवसाय की दृष्टि से अयशस्कर हो सकता है।

(१) दौहृदजा छर्दि और हृल्लास—बहुतांश स्त्रियों में गर्भ धारण के बाद प्रायः दूसरे मास से ये उपद्रव प्रारम्भ होते हैं और प्रायः चौथे महीने के अन्त तक अपने आप शान्त हो जाते हैं प्रातःकाल में उठने के समय कुछ स्त्रियों को अरुचि और कभी हृल्लास और वमन दोनों उपद्रव दिखाई देते हैं।

(२) बार-बार मूत्रोत्सर्ग की इच्छा—प्रारंभिक दो महीनों में यह लक्षण दिखाई देता है।

(३) मानसिक अस्वास्थ्य—प्रारंभिक चार महीनों में स्त्री का अत्यन्त चिन्तन या दुःखी होना, चिडचिडापन "दौहृदोत्पत्ति" याने कोई असामान्य चीज खाने की इच्छा या सुगन्धित या अन्य सामान्य चीजों से विद्वेष, ये नाडीसंस्थान के लक्षण दिखाई देते हैं।

(४) गर्भ संचलन-प्रतीति—गर्भिण्यवस्था के चौथे महीने से छठे महीने के बीच में गर्भाशय पूर्णतया उदर की पूर्वी दीवार में अवयवों का सम्पर्क आता है। इस समय गर्भावयवों में गति होने से गर्भाशय की दीवार में अवयवों का सम्पर्क होता है और इससे गर्भिणी को उदर की पूर्व दीवार द्वारा उदर में किसी चीज की हलचल की आशङ्का होती है। जिस गर्भिणी को पूर्व गर्भिण्यवस्था का अनुभव है, वह यह हलचल गर्भावयवों की है या नहीं, इसका अनुमान भलीभाँति कर सकती है। परन्तु अननुभवी गर्भिणी को गर्भ का अनुमान करना कठिन होता है। इस हलचल से अन्त्रगत आध्मान या अनियमित 'पुरस्सरण क्रिया' की आशंका सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त लक्षण गर्भिणी के 'स्वसंवेद्य' लक्षण हैं। अतः उनको सुन कर चिकित्सक को गर्भ निदान की दृष्टि से अधिक सहायता नहीं होती। स्त्री गर्भिण्यवस्था का बहाना भी कर सकती है। उसके लक्षणों का गर्भ व्यतिरिक्त कारण भी हो सकता है या अननुभव स्त्री इन लक्षणों का इस दृष्टि से विचार करने में भी असमर्थ होती है।

पूर्वोक्त प्रत्यक्ष-परीक्षा विधियों से भिन्न-भिन्न अंगों की परीक्षा करनेपर जिन चिह्नोंका 'अनैकान्तिक चिह्नों'में अन्तर्भाव किया जा सकता है, वे नीचे लिखे हुए हैं—

मुखगत चिह्न—नेत्राधोभाग में, नासिका पार्श्व में, ऊर्ध्वोष्ठ के ऊपर और शङ्खीय भागों में रञ्जक द्रव्य की अधिकता से अधिक कृष्णता दिखाई देना।

स्तनगत चिह्न--पूर्वोक्त स्तनों के परिवर्तनों का गर्भनिदान की दृष्टि से महत्व प्रथम गर्भिण्यवस्था में अधिक होता है, क्योंकि प्रथम प्रसव के बाद इन परिवर्तनों में से अनेक परिवर्तन अंशतः स्थायी रूप धारण कर लेते हैं। डिम्ब ग्रन्थि या गर्भाशय के अर्बुदों में भी कभी-कभी स्तनों में वृद्धि और जल सदृश स्नैहिक पदार्थ या दुग्ध की उपस्थिति ये चिह्न मिलते हैं। प्रारम्भिक चार महीनों में निम्न विशेष परिवर्तन दिखाई देते हैं--

(१) स्तनों की क्रमशः वृद्धि और शिराओं की स्पष्टता।

(२) कृष्णमण्डल और चूचुक का फूलना, अधिक कृष्णता और बीच-बीच में उभारों की उपस्थिति।

(३) कृष्णमंडल की चारों ओर की त्वचा में परिवर्तनों का होना।

(४) चूचुक से जल सदृश स्नैहिक पदार्थ का निकलना।

उदरगत चिह्न--(१) उदर की मध्यरेखा की और वंक्षणीय भागों की त्वचा में रञ्जन।

(२) उपत्वचा में किक्किसोत्पत्ति।

(३) नाभि—नाभि की गहराई प्रथम तीन महीनों में बढ़ी हुई और उसमें तनाव होता है। बाद के तीन महीनों में धीरे-धीरे गहराई कम होती जाती है और सातवे महीने के अन्त तक नाभि उदर की त्वचा के समतल आ जाती है। अन्तिम महीनों में धीरे-धीरे उसके स्थान में उभार दिखाई देता है।

(४) उदर की गर्भिण्यवस्था मास-सापेक्षिक वृद्धि—इसमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्रारंभिक दो महीनों में गर्भाशय अपने ही भार के कारण लघु श्रोणि गुहा में अधिक नीचे की ओर उतरता है, अतः इस समय स्त्री को पीठ के बल लिटा कर देखने से पेड़ू का स्थान चपटा दिखाई देता है, कभी-कभी अन्त्रगत आध्मान के कारण

या उदर में मेदोवृद्धि के कारण पेडू का स्थान फूला हुआ भी दिखाई देता है। तृतीय महीने के बाद गर्भाशय की क्रमशः ऊपर की ओर वृद्धि होती है, जिससे उदर की भी क्रमशः वृद्धि होती है।

(५) चौथे महीने से 'उदर स्पर्श परीक्षा' से गर्भाशय प्रतीत होता है।

निश्चयात्मक संशयोत्पादक चिह्न—

'प्रत्यक्ष परीक्षा' द्वारा इन चिह्नों को, पूर्वोक्त 'अनैकान्तिक लक्षण और चिह्नों' के साथ देखते हुए गर्भोपस्थिति के विषय में करीब-करीब निश्चयात्मक अनुमान कर सकते हैं। परन्तु व्यवसाय की दृष्टि से इस समय भी किंचित् संशययुक्त मत देना आवश्यक है। निम्नलिखित चिह्नों को 'संशयात्मक चिह्न' कह सकते हैं—

(१) गर्भाशय के आकार में क्रमशः मास सापेक्षिक वृद्धि—पूर्व में 'अनैकान्तिक चिह्नों' में देखी हुई उदर के आकार में वृद्धि यदि वर्धमान गर्भाशय के कारण ही होने का निश्चय हो, उदर स्पर्श परीक्षा से गर्भाशय शिखर गर्भाशय के मासानुमासिक वृद्धि के अनुसार उदर में प्राकृतिक स्थान पर प्रतीत हो तो गर्भाशय की वृद्धि गर्भोपस्थिति और वृद्धि के कारण ही होने का अनुमान हो सकता है।

(२) हेगर का चिह्न—यह चिह्न प्रारंभिक डेढ महीने से ढाई महीनों के बीच में प्रतीत होता है। 'संयुक्त योन्युदरपरीक्षा' द्वारा इसको प्रतीत करने की भिन्न-भिन्न विधियाँ हैं।

(३) गर्भाशय के पेशी सूत्रों में संकोच—प्रथम ध्यान में आ चुका है कि गर्भाशय के पेशी सूत्रों में गर्भिण्यवस्था के प्रारम्भ से ही समय-समय पर संकोच और विस्तार की क्रिया जारी रहती है। प्रारम्भ में संकोच प्रत्येक ५ से १० मिनिट में एक समय होते हैं। संकोच के समय कुछ क्षण के लिए गर्भाशय कडा और कठिन प्रतीत होता है। गर्भाशय उदर की पूर्व दीवार के सम्पर्क में आनेपर उदर

स्पर्श-परीक्षा से संकोचों को प्रतीत किया जा सकता है। गर्भाशय का 'रक्तार्बुद' और 'सौत्रिक धातु के अर्बुदों' में भी इस प्रकार गर्भाशय संकोच प्रतीत हो सकते हैं।

मातृजं ह्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयेन तत् ॥ ५२ ॥
सम्बद्धं तेन गर्भिण्या नेष्टं श्रद्धाविमाननम् ।
देयमप्यहितं तस्यै हितोपहितमल्पकम् ॥ ५३ ॥
श्रद्धाविघाताद् गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा ।

इस गर्भ का हृदय माता के आर्तव नामक मृदु बीज भाग से उत्पन्न होता है। (मातृत इति मातुरागतात् शोणितात—चक्रपाणि) यह हृदय माता के हृदय के साथ (रस बहन करनेवाली धमनियों द्वारा) जुड़ा रहता है। इसलिए गर्भ और माता के हृदय में इन धमनियों द्वारा एक प्रकारकी इच्छा उत्पन्न होती है, क्योंकि गर्भवती के हृदय को पीड़ा होने पर गर्भ के हृदय को भी पीड़ा होती है, क्योंकि दोनों के परस्पर सम्बन्ध रहते हैं। इसी सिद्धान्त से गर्भिणी को 'दौहृदिनी' कहते हैं। 'द्विहृदयाञ्च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते'–सु०। ऐसे समय में माता की इच्छा गर्भ में तथा गर्भ की इच्छा माता में होती है, इस लिए इस समयमें माता की अभिलाषा पूर्ण करनी चाहिए। अत्यन्त तीव्र इच्छा होनेपर अहितकारी वस्तु को भी हितकारी पदार्थ के साथ मिला कर देना चाहिए। द्विहृदया की श्रद्धा की पूर्ति न होने से वायु प्रकुपित हो कर गर्भ में विरूपता तथा गर्भ का नाश कर देता है।

वक्तव्य—मातृजं—मातुर्जातं मातृजम् "पञ्चम्यामजातौ" इति जनेर्डप्रत्ययः[1]। हृदय–चेतनाधिष्ठान है। इस हृदय में ही चेतना का अधिवास आयुर्वेदाचार्यों ने माना है। यह हृदय रक्त और कफ के प्रसाद से उत्पन्न हुआ है[2]। प्राणवह धमनियों का इससे सम्बन्ध है[3]।

१–मातृकारणकार्तवजम्। (च. शा. ४) चक्रपाणि। मातुर्बीजभागेन मृदुना आर्तवाख्येन जायते। —इन्दु।

२–शोणित-कफप्रसादजं हृदयम्। हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत! देहिनाम्।

३–यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः। (सु. शा. ४ अ.)

इसके दोनों तरफ फुफ्फुस हैं। दक्षिण भाग के निम्न प्रदेश में यकृत् और क्लोम तथा वाम भाग में नीचे प्लीहा होती है। यही हृदय ओज का स्थान[1] है तथा प्राण और अन्य चेतना स्थानों की अपेक्षा अधिक महत्त्व चेतना स्थान का है।

यह हृदय ही अपने संकोच-विकास से रक्त को सदैव गतिमान् करता है। यह अनैच्छिक मांस से निर्मित शरीर के विशेष महत्त्व का अङ्ग है। इसके संकोच-विकास पर मनुष्यों का कोई अधिकार नहीं है। इसी हृदय के साथ धमनी और सिराएं दोनों ही सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु दोनों का हृदय के साथ सम्बन्ध भिन्न प्रकार से होता है। संक्षेप में प्राण, ओज, रस, स्पन्दन आदि कार्यों के लिए धमनियाँ हृदय के आश्रित रहती हैं। धारण, पोषण या रक्षण द्वारा आश्रितों का कार्य निर्वाह करने से धमनियों की दृष्टि से हृदय आश्रय है। सिराएं कार्य-निर्वाह करने से हृदय से सम्बन्ध रखने पर भी उससे कुछ भी ग्रहण नहीं करती हैं, किन्तु हृदय को ही रक्त पहुँचाती हैं। इसका सुन्दर वर्णन महर्षि भेड ने इस तरह किया है[2]—"हृदय रक्त के लिये सिराश्रयी होता है, सिराएं हृदयाश्रयी नहीं होती हैं।" संक्षेप में हृदय रक्त परिचालक यन्त्र है। इसी हृदय से सम्पूर्ण शरीर की समस्त धातुओं अङ्ग-प्रत्यङ्गों को प्राणयुक्त, ओजयुक्त, चैतन्ययुक्त जीव रक्त मिलता है। इसी कारण से समस्त शरीर में यह चेतनास्थान है तथा समस्त शरीर में चैतन्ययुक्त हो जाता है[3]। आयुर्वेद में हृदय का वर्णन बहुत ही सुन्दर है—

१–कफरक्तप्रसादात् स्याद् हृदयं स्थानमोजसः।
मांसपेशीचयो रक्तपद्माकारमधोमुखम्। (अरुणदत्त)।
तत्परस्यौजसः स्थानम्। —चरक।

२–हृदो रसो निस्सरति तत एव च सर्वतः।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्माद् हृत्प्रभवाः सिराः।
...भेडसंहिता सू० अ० २१

३–तद् (हृदयं) विशेषेण चेतनास्थानम्। —सु० शा० ४।३१
अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम्। —च० नि० ८।७

"हृदय अधोमुख, रक्त-कमल कलिका सदृश बना हुआ नीचे की तरफ नोकीला तथा ऊपर मोटा मांस-पेशी से निर्मित एक पोला अङ्ग है[१]।" अर्थात् हृदय सदा ही कमल-कलिका के समान रहता है, कभी भी कमल-पुष्प की तरह खिलता नहीं है। भेद इतना ही है कि दिन में चलना-फिरना, खडे होना, बैठना, खाना-पीना, विचार करना आदि कार्य करने के लिये कार्य की न्यूनाधिकता के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में रक्त की भी आवश्यकता होती रहती है। यह सभी कार्य हृदय के संकोच और विकास से होते हैं। दिन में ये कार्य अधिक होते हैं, रात्रि में कायिक, वाचिक और मानसिक सम्पूर्ण ऐच्छिक कार्य कम हो जाने से दिन की अपेक्षा रात्रि में हृदय को शरीर में भिन्न-भिन्न अङ्गों में रक्त पहुँचानेका कार्य कम करना पडता है तथा रात्रि में अधिक आराम मिलता है। इसी आधार पर सुश्रुत संहिता में रात्रि में हृदय का संकुचित दिन में विकसित होना लिखा है[२]। नव्य-मत में विशेष अन्वेषण करने से यह ज्ञात हुआ है कि आराम के समय हृदय एक मिनिट में (५ से साढे ६ सेर तक) रक्त बाहर फेंकता है तथा अधिक परिश्रम के समय यह कार्य ७-८ गुणा बढ जाता है। अर्थात ३०-सेर से अधिक रक्त बाहर फेंक सकता है। इसी तरह रात्रि में अत्यधिक आराम लेने पर दश गुना कम भी हो जाता है।

हृदय बुद्धि, मन और चेतना का स्थान है तथा हृदय—इच्छा, सुख, दुःखादि का भी स्थान है, इसलिये गर्भ में पूर्व जन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार कुछ इच्छाएं होती हैं, इसी को "दौहृद" कहते हैं इसी विषय को चरक ने इस तरह व्यक्त किया है—

"गर्भ में सुख-दुःख की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं तथा सुख-दुःख के कारण गर्भ माता के उदर में हस्त-पादों का संचालन करता है

१—पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।—सु० शा० ४।३२

२—जाग्रतस्तद् विकसति स्वपतश्च निमीलति।—सुश्रुत

और हृदय के द्वारा अपनी कामनाओं का प्रभाव माता के हृदय पर डालता है, क्योंकि मातृ-हृदय गर्भ हृदय के साथ मिलने से दो हृदय हो जाता है[१]।

अरुणदत्त ने भी[२] "गर्भिणी हृदय के सन्तप्त होने पर गर्भ-हृदय भी सन्तप्त होता है, क्योंकि हृदय का सम्बन्ध परस्पर है। इसलिये गर्भिणी को द्विहृदया कहते हैं, अतएव, परायत्त हृदय होने से उस समय अपनी अपनी इच्छानुकूल अभिलाषा को छोड कर अनेक तरह की अभिलाषाएं उत्पन्न होती हैं। अ० हृदय-संग्रह तथा चरक में तृतीय मास में ही सुख-दुःखादि का ज्ञान तथा गर्भ का संचालन माना है, किन्तु सुश्रुत ने इन्द्रियों के विषयों की इच्छा को चतुर्थ में कहा है। क्योंकि उस समय स्पन्दनादि समस्त स्पष्ट हो जाते हैं। तृतीय मास से ही गर्भ के हृदय की वृद्धि होने लगती है। संग्रहकार ने[३] तीन पक्ष से पाँच मास तक दौहृद का काल माना है। इन श्लोकों से—गर्भिणी का द्विहृदयत्व, (२) गर्भिणी का दौहृद काल (३) गर्भिणी का दौहृद पूरण काल, (४) दौहृदविमान से हानि, (५) दौहृद की यथावत् पूर्ति का फल आदि जो तृतीय मास से होने वाली अवस्थाओं का वर्णन है। रघुवंश

१–तस्य यत् कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते, तत् कालमेव चेतसि वेदनानिर्बन्धं प्राप्नोति, तस्मात्तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते, प्रार्थयते च जन्मान्तरानुभूतं यत् किञ्चित्, तद् द्वैहृदय्यमाचक्षते वृद्धाः। च० ४।१५। तस्मादिति–सुख-दुःखसम्बन्धात्, सुखोत्पादनार्थं दुःखपरिहारार्थं च स्पन्दते चलति, तथा प्रार्थयते च सुखहेतून् जन्मान्तरानुभूतानित्यर्थः। तद् गर्भप्रार्थनायुक्तं मातृहृदयं द्वैहृदयमिति वृद्धा ज्ञानवृद्धा आचक्षते। द्विहृदयस्य भावात् द्वैहृदय्यम्, मातृहृदयं गर्भहृदयेन समं हृदयद्वयं भवति।

—चक्रपाणि

२–गर्भिणीहृदयेन सन्तप्तेन गर्भहृदयमपि सन्तप्यते। परस्परं हृदयस्य सम्बन्धत्वात्। अतएव च गर्भिणी द्विहृदया दौहृदिनीत्युच्यते। अतएव च परायत्तहृदयत्वात् तत्काले स्वस्वभावोचितमभिलाषं विहाय नानाभिलाषो जायते। –अरुणदत्त।

३–अन्ये तु पक्षत्रयात् प्रभृत्या पञ्चमान्मासाद् दौहृदकालमाहुः।–वृ० वा०

में "सुदक्षिणा दौहृदलक्षणं दधौ" इन श्लोकों से तथा श्रीमल्लिनाथ ने टीका में अष्टाङ्ग हृदय के ही प्रमाण दिये हैं[१]।

श्रद्धाविमाननम्—गर्भावस्था में गर्भिणी के मन में जो विशेष अभिलाषाएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी पूर्ति न करना अथवा तिरस्कार की भावना से देखना। देयमप्यहितम्—स्त्री की गर्भिणी अवस्था में मस्तिष्क, मन तथा स्वभाव आदि में विशेष परिवर्तन हो जाता है, जिनका वर्णन प्रथम आ चुका हैं, ये सभी लक्षण गर्भ के ही कारण होते हैं। आयुर्वेद में गर्भ का सम्बन्ध मन के साथ होनेसे मन पर जो अच्छा-बुरा प्रभाव पडता है, उसका प्रभाव तत्क्षण गर्भ पर पडता है। इसलिये इस अवस्था में गर्भिणी की जो-जो इच्छाएँ हो उनकी पूर्ति अवश्य करनी चाहिये। इनमें पथ्यकर हो तो पूर्ण रूपसे यदि अपथ्यकर हो तथा अत्यन्त इच्छाएं हो तो पथ्यकर द्रव्यों के साथ मिला कर अल्प मात्रा से गर्भिणी के चित्त को शान्ति देनी चाहिये। अत्यन्त ही अहितकर हो तो उसे न देना ही अच्छा है, यह भी चरक का आदेश है। श्रद्धा विघात से दोनों के लिए विशेषतः गर्भ के लिये अत्यन्त हानि होती है[२]।

१–शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना। –रघु० तृ० स०
स्वहृदयेन गर्भहृदयेन द्विहृदया गर्भिणी। यथाह वाग्भट:
"मातृजं ह्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयं च तत्। सम्बद्धं तेन गर्भिण्याः नेष्टं श्रद्धाभिमाननम्" तत् सम्बद्धत्वाद् गर्भो दौहृदमित्युच्यते। सा च तयोर्योगाद् दौहृदिनीति। तदुक्तं संग्रहे–"द्विहृदयां नारीं दौहृदिनीमाचक्षते"।
– श्रीमल्लिनाथः।

२–सा यद् यदिच्छेत् तत् तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः। तीव्रायान्तु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यैहितेनोपहितं दद्यात् प्रार्थना विनयनार्थम्। च० शा० ४। गर्भसमानयोगक्षेमा हि गर्भिणी भवति। तस्माद्-विशेषतस्तां प्रियहिताभ्यां गर्भोपघातकरेभ्यो रक्षेत्। वृ० वा०
उपेत्य सा दौहृददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्। रघुवंशः।
दौहृदं–गर्भचतुर्थमासात् प्रभृति गर्भहृदयं तेन समं मातुः प्रार्थना विषयेषु, तत्र प्रार्थितालाभे दौर्हृदापचारः, स गर्भे विकृतिं जनयति। भानुमत्यां चक्रपाणिः।

सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय २४ में दौहृदापचारकृत-व्याधियोंके वर्णनमें— "मातुरपचारात् पंगुजात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामनप्रभृतयो जायन्ते" लिखा है। अर्थात् गर्भ के भीतर जीवन का आश्रय होने से माता के मन में जो विविध वासनाएं तथा श्रद्धाएं उत्पन्न होती हैं, उनके विघात होने से उत्पन्न होनेवाली व्याधियाँ। ये समस्त व्याधियाँ दौहृदापचार शब्द में श्रद्धा-विघातादि जन्य सभी का समावेश हो जाता है।

प्रकृत में "मातृजं ह्यस्य हृदयम्" -के विषय में यह भी स्मरणीय है कि आचार्यों ने गर्भ के शरीरावयवों के विषय में कुछ मातृज-कुछ पितृज आदि निर्दिष्ट किए हैं। इनका निष्कर्ष यह है कि —माता एवं पिता के बीजों से गर्भ के जो जो अवयव निर्मित होते हैं उनका स्वरूप, स्वास्थ्य एवं अस्वास्थ्य माता-पिता के अवयवों के स्वरूपानुसार ही होते हैं "मनुष्यबीजं हि प्रत्यङ्गबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृश-प्रत्यङ्गसमुदायरूपपुरुषजनकम्"—चक्रपाणि। तथापि प्रत्येक अवयवों में मातृज-पितृज दोनों के अंश होते हैं, किन्तु जिस अङ्ग में माता का अंश अधिक होता है उसको मातृज कहते हैं, इसलिये प्रकृत में गर्भ के हृदय में माता का अंश अधिक होता है। इसका स्पष्टीकरण "व्यपदेशस्तु भूयसा" -अ० सू० ६।२ तथा अरुणदत्त ने "अस्मिन् देहे अनेक-सामग्रीकेऽपि यन्मृदुवस्तु तन्मातृजम्। मातुराधिक्येन कारणभाव इत्यर्थः।" --अ० हृ० शा० ४-५ टीका।

व्यक्तीभवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम् ॥ ५४ ॥
मूर्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्माङ्गजन्म च।
सममेव हि मूर्धाद्यैर्ज्ञानञ्च सुखदुःखयोः ॥ ५५ ॥

तृतीय मास में इस गर्भ के पाँच अङ्ग व्यक्त हो जाते हैं, एक शिर, दो सक्थि (टांगें), दो बाहू तथा सम्पूर्ण सूक्ष्म अङ्गों की उत्पत्ति हो जाती है, क्योंकि साथ ही शिर आदि द्वारा गर्भ को सुख का ज्ञान होता है।

वक्तव्य—इस मास में गर्भांड, नारङ्गी के आकार का हो जाता है। लम्बाई ३॥ इन्च की भार में लगभग २। तोला का होता है। आंत्र पूर्णतया उदरगुहा में पहुंच जाती हैं तथा नाभिनाल में चक्करदार मोड हो जाता है। अनेक अस्थियों में अस्थि-निर्माण-केन्द्र बनने लगते हैं। हस्त-पाद अंगुलियां पर अति सूक्ष्म रूप से नख पैदा हो जाते हैं और अंगुलियां अलग-अलग दिखाई देती हैं। बाह्य जननेंद्रिय कुछ स्पष्ट होने लगती हैं। "पुत्र तथा कन्या की पहिचान अच्छी तरह हो सकती है। बालग्रन्थि और अधिवृक्क बनते हैं धड से ग्रीवा द्वारा सिर विभक्त होता है[१]।"

तृतीय मास के गर्भ का तन्त्रान्तरों में स्वरूप

तृतीय मास में दो हाथ, दो पैर तथा सिर इनकी पांच पिण्डिकाएं निकल आती हैं। और अङ्ग-प्रत्यङ्ग-विभाग सूक्ष्म होता है[२]।

तृतीय मास में सब इन्द्रियां तथा सब अङ्ग-अवयव एक साथ प्रकट हो जाते हैं[३]।

तृतीय मास में पांच अवयव अलग-अलग हो जाते हैं, दो बाहु, दो सक्थि और शिर। सन्धियों में जब प्ररोह (अंगुली आदि) बनने लगते हैं, तब से ही सब अङ्गों के अवयव और इन्द्रियां एकदम बनने लग जाती हैं। परन्तु जन्मोत्तर काल में होनेवाले दन्त आदि

१–शाखाश्चतस्रोमूर्द्धोरःपृष्ठोदराण्यङ्गानि। चिबुकनासौष्ठश्रवणाङ्गुलिपार्ष्णि-प्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि। डह्लण (सु. शा. ५)

२–तृतीये मासि हस्त-पादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्ते। अङ्ग-प्रत्यङ्ग-विभागश्च सूक्ष्मो भवति। सुश्रुत

३–तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते (चरक)

क्रमशः उत्तर में स्पष्ट होते हैं। यह तो स्वभाव है इससे विपरीत (गर्भ में ही दन्त आदि निकलना) विकृति है[१]।

इत्यादि बहुत विस्तार के साथ चरक तथा अ० संग्रह में मिल रहा है। तृतीय मास में गर्भवती को चेतना स्पष्ट होने लगती है तथा इस समय से ही गर्भ का स्फुरण होने लगता है, और पांचों इन्द्रियों के विषयों में अभिलाषा होने लगती है। संग्रह तथा चरक में प्रथम तृतीय मास के गर्भ का वर्णन कर के अनन्तर "मातृजं ह्यस्य हृदयम्" इसका वर्णन किया है, किसी अंश में यह ठीक भी प्रतीत होता है।

गर्भस्य नाभौ मातुश्च हृदि नाड़ी निबध्यते।
यया स पुष्टिमाप्नोति केदार इव कुल्यया ॥ ५६ ॥

गर्भ की नाभि में लगी नाडी के द्वारा माता के आहार-रस से गर्भ का पोषण केदारकुल्या न्याय से होता है। जिस तरह सिंचाई करते समय कृषक विभिन्न क्यारियों में लगाए या बोए हुए वृक्ष या पौधों की सिंचाई करता है, ठीक उसी तरह नाभि नाडी की एक ही मल नाड़ी से जाते हुए आहाररस के द्वारा अनेक धातुओं का पोषण होता है।

वक्तव्य—गर्भ का पोषण माता के द्वारा कैसे होता है, इसका वर्णन इस श्लोक में किया है। गर्भ का पोषण अनेक विधियों से होता है इसका वर्णन प्राचीन तथा नवीनों ने विशद रूप से किया है, उनका दिग्दर्शन किया जाता है। पोषण दृष्टि से गर्भावस्था को दो कालों में विभाजित करना चाहिये। प्रथम काल अपरा तथा नाभि काल निर्माण होने के प्रथम के तीन मास का, दूसरा काल अन्तिम

१—तृतीये पञ्चधा प्ररोहंति। तद्यथा—सक्थिनी बाहू शिरश्च। सक्थ्यादि-प्ररोहैककालमेव च सर्वाङ्गावयवेन्द्रियाणि युगपत् सम्भवन्त्यन्यत्र जन्मोत्तर-कालजेभ्यो दन्तादिभ्यः। क्रमेण तु स्फुटी भवन्ति। एषा प्रकृतिः, विकृति-रतोऽन्यथा। वृ० वा० शा० २

६ या ७ मास का होता है, इस तरह गर्भ का विभिन्न तरह से पोषण होता है। अपरा तथा नाभि-नाड़ी बनने के समय तक गर्भ के सम्पूर्ण शरीर के चारों तरफ माता की रसवह धमनियों से जो रक्त आता है, उससे ही उसका पोषण होता है। जब अपरा बन जाती है तब केवल अपरानुसारी माता की रसवह धमनियों से उसका पोषण होता है।

प्राचीनमत—जब तक अपरा नहीं बनती तब तक गर्भ का पोषण बीजद्वारा स्वयं ग्रहण किए गए आहारों के रस से होता है। यह आहाररस उसको गर्भाशयस्थित मातृ-रस और रक्त से मिलता है। यह पोषण का प्रथम क्रम है। इसके बाद जब अपरा की उत्पत्ति हो जाती है तब पोषण का क्रम अपरा तथा नाभिनाल के द्वारा होने लगता है।—अ० शा०

गर्भ को प्यास तथा क्षुधा नहीं होती, उसका जीवन पराधीन होता है, अर्थात् माता के आधीन होता है। वह सत् और असत्-(सूक्ष्म) अङ्गावयव वाला गर्भ माता पर आश्रित रहता हुआ उपस्नेह और उपस्वेद (ऊष्मा) से जीवित रहता है। जब अङ्गावयव व्यक्त हो जाते हैं—स्थूल रूप में आ जाते हैं तब कुछ तो रोम-कूप के मार्ग से उपस्नेह होता है और कुछ नाभिनाल के मार्ग से। गर्भ की नाभि पर नाड़ी लगी रहती है, नाड़ी के साथ अपरा लगी (जुडी) रहती है और अपरा का सम्बन्ध माता के हृदय के साथ रहता है। गर्भ की माता का हृदय स्यन्दमान (बहती हुई) सिराओं द्वारा उस अपरा को रस या रक्त से परिपूर्ण करते रहता है। वह रस गर्भ को वर्ण और बल देनेवाला होता है। सम्पूर्ण रसों से युक्त आहार-रस गर्भिणी-स्त्री में तीन भागों में विभक्त हो जाता है। प्रथम भाग उसके अपने शरीर की पुष्टि के लिये होता है। दूसरा भाग क्षीरोत्पत्ति के लिये तथा तीसरा

भाग-गर्भ-वृद्धि के लिए होता है। इस तरह गर्भ आहार से परिपालित हो कर गर्भाशय में जीवित रहता है[1]।

चतुर्थे व्यक्तताऽङ्गानां—

चतुर्थ मास में अङ्ग व्यक्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—चतुर्थ मास में गर्भ ६ इंच लम्बा (१५ सेण्टीमीटर) भार में ७ औंस का होता है। लिङ्ग पूर्णतया व्यक्त हो जाता है, गर्भ-लोम पूरी त्वचा पर निकल आते हैं। मांसपेशियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। गर्भ में चतुर्थ मास के अन्त में कुछ गति होने लगती है, जो स्त्री स्वयं प्रतीत करने लगती है।

प्राचीनमत—चतुर्थ मास में सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग के विभाग स्पष्ट हो जाते हैं। गर्भ हृदय पूर्णतया व्यक्त हो जाता है। फलतः चेतना-धातु भी कार्यशील हो जाता है। अतः इस मास में गर्भ अपनी इन्द्रियों से विषय ग्रहण करने की इच्छा करने लगता है। फलतः गर्भ के अनुसार माताको खाना, पीना, देखना, सुनना आदि आहार-विहारों की इच्छा होने लगती है। इस अवस्था में गर्भिणी-स्त्री दो हृदयवाली हो जाती हैं। इसीलिये इसे "दौहृदिनी" कहते हैं[2]।

१—व्यपगत पिपासाबुभुक्षणः खलु गर्भः परतंत्रवृत्तिः, मातरमाश्रित्य वर्तयत्युपस्नेहोपस्वेदाभ्यां गर्भस्तु सद्सद् भूताङ्गावयवः। तदनन्तरं ह्यस्य लोमकूपायनैरुपस्नेहः कश्चिन्नाभिनाड्ययनैः। नाभ्यां ह्यस्य नाडी प्रसक्ता, नाड्यांश्चामरा। अमरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये, मातृहृदयं चास्य तामपरामभिसंपद्यते सिराभिः स्यन्दमानाभिः स तस्य रसो बलवर्णकरः सम्पद्यते। स च सर्वरसवानाहारः स्त्रिया ह्यापन्नगर्भायास्त्रिधा रसः प्रतिपद्यते स्वशरीरपुष्टये स्तन्याय गर्भवृद्धये च। स तेनाहारेणोपष्टब्धः परतंत्रवृत्तिमातरमाश्रित्य वर्त्तयत्यन्तर्गतः।

—च० शा० ६

२—चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यगविभागः प्रव्यक्ततरो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तीभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्—तत् स्थानत्वात्, तस्माद् गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयाञ्च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते।
—सुश्रुत (शा. ३–१८)

इस मास में रोमकूप निकलते हैं[१]। चतुर्थ मास में गर्भ स्थिर (ठोस-घन) हो जाता है। इसलिये उस समय गार्भिणी को अपना देह विशेषतः भारी प्रतीत होता है[२]।

चतुर्थ मास में गर्भ गर्भाशय में स्थिर हो जाता है तथा उपद्रवों से रहित होता है। इस मास में गर्भिणी का शरीर भी अधिक भारी हो जाता है[३]।

चेतनायाश्च पञ्चमे।

पञ्चम मास में चेतना स्पष्ट हो जाती है। चेतना मन को कहते हैं।

वक्तव्य—इस में ७ से ८ इन्च लम्बा तथा भार में लगभग आधा सेर का गर्भ होता है। अन्य अङ्गों की अपेक्षा शिर बहुत बडा होता है। त्वचा के ऊपर उल्ब नामक एक चिकना पदार्थ लगा हुआ रहता है, इससे त्वचा की रक्षा होती है। यकृत् अच्छी तरह बन जाता है। लम्बाई अधिकतर टाँगों में होती है। आन्त्र में कुछ मल इकट्ठा होने लग जाता है। गर्भ का चलन-वलन अधिक होता है।

प्राचीनमत—इस मास में गर्भ की पेशियों की वृद्धि होती है। (फलतः गर्भिणी का बल तथा वर्ण घट जाता है) अन्य महीनों की अपेक्षा अधिक होते है इसलिये बहुत कृश हो जाती है[४]।

१–चतुर्थे लोमानां सम्भवश्चात्र दृश्यते। —हारीत

२–चतुर्थे स्थिरत्वमापद्यते गर्भः। तस्मात्तदा प्रभृति गर्भिणी गुरुगात्रत्वमधिकमापद्यते विशेषेण। —चरक

चतुर्थेऽङ्ग-प्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो गर्भश्च स्थिरो भवति। —अ० सं०

३–चतुर्थे स्थिरतां याति गर्भः कुक्षौ निरामयः। —का० सं०

४–पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः। —चरक

उल्वं हि नाम पूतिग्रन्थिनिःस्रवेण मृतत्वक्कोषाणुभिश्च विनिर्मितः स्नैहिकस्तरो गर्भोदकमग्नस्य गर्भत्वचोऽभिरक्षणः। —अ० प्र० तं०

चेतनायाः पुनर्मनोद्वितीयनामिकाया अव्यक्तरूपायाः पञ्चमे मासि व्यक्तता जायते। —अरुणदत्त

सुश्रुत ने मन की अभिव्यक्ति इसी मास में निर्दिष्ट की है[1]। काश्यप ने भी कहा है—"हे जीवक! पंचम मास में गर्भ के मांस और रक्त में विशेष वृद्धि होने लगती है। इसलिये इस समय गर्भिणी अत्यन्त कृश हो जाती है[2]।" अष्टाङ्ग संग्रह में भी ऐसा ही लिखा है[3]। गर्भोपनिषद्कार कहते हैं कि—इसमें पृष्ठवंश होता है[4]।

मन-मन्यते ज्ञायते-अनेन इति मनः। मन ज्ञाने धातु से मन शब्द बनता है। ज्ञान का होना अथवा न होना ही मन के अस्तित्व का लक्षण है। सुख-दुःख आदि के साक्षात्कार या उपलब्धि का जो साधन है, वह मन है। मन अणु, एक सर्व शरीरचर है, यह जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ पर तत्क्षण पहुँच कर इन्द्रियार्थों के ग्रहण करने में सहायता करता है[5]। केश-नखादि संज्ञाहीन शरीर के उपाङ्गों को छोड कर मन समस्त शरीर में सञ्चार करके ज्ञान प्राप्त कराता है[6]। सुश्रुत में मन की गणना इन्द्रियों के भीतर करते हुए इसको कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय दोनों में मान कर उभयात्मिक कहा है[7]। अन्य इन्द्रियों के साथ सात्विक अहङ्कार से मन की उत्पत्ति सांख्य-शास्त्र के अनुसार सुश्रुत ने बतलाई है[8]। इसलिये मन भी इन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

१—पञ्चमे मासि मनः प्रतिबुद्धतरं भवति। —सुश्रुत

२—गर्भिणी पञ्चमे मासि तस्मात् कार्त्स्न्येन युज्यते।
गुरुगात्रत्वमधिकं गर्भिण्यास्तत्र जायते।
मांसशोणितवृद्धिस्तु पञ्चमे मासि जीवक। का० सं०

३—पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, मांसशोणितोपचयश्च। —वृ० वा०

४—पञ्चमे पृष्ठवंशो भवति। —गर्भोपनिषद्।

५—मनःपुरस्सराणीन्द्रियाणि—अर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। —चरक सू० ८

६—वेदनानामधिष्ठानं मनोदेहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्न-मलद्रवगुणैर्विना। —च० शा०

७—उभयात्मकं मनः। —सु० शा०

८—इन्द्रियञ्च साधर्म्यात्। —सां० का०
तत्र वैकृतादहङ्कारात्तैजस सहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते।
—सुश्रुत शा० १

चरक के मत से आत्मा का श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा शब्दादि विषयों के साथ सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषयका ज्ञान होता है तथा कभी नहीं होता है। इस ज्ञान का होना तथा न होना किसी कारणान्तर को सूचित करता है। इस कारणान्तर को ही मन कहते हैं[1]।

षष्ठे स्नायुसिरारोमबलवर्णनखत्वचाम् ॥ ५७ ॥

षष्ठ मास में स्नायु-सिरा-रोम-बल-वर्ण-नख तथा त्वचा उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—इस मास में गर्भ ९ इञ्च (२३ से० मी०) लम्बा होता है तथा इसका भार एक सेर का होता है। त्वचा के नीचे मेद का सञ्चय हो जाता है तथा सिरपर बाल उग आते हैं। इस समय "अण्डग्रन्थि" वृक्क के पास उदर में रहती है। भ्रू और पक्ष्म बनने लगते हैं।

प्राचीन्-मत—इस मास में गर्भ में अन्य मासों की अपेक्षा बल और वर्ण की अधिक वृद्धि होती है, इसलिये इस समय गर्भिणी में विशेषतया निर्बलता होती है तथा वर्ण भी पीला पड जाता है[2]।

षष्ठ मास में विशेषतः बुद्धि (अधिक प्रव्यक्त) होती है। सु०, अ० संग्रह तथा गर्भोपनिषद् में भी ऐसा ही लिखा है।

सर्वैः सर्वाङ्गसम्पूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे।

सप्तम मास में गर्भ सम्पूर्ण-समस्त अङ्गों को पूर्ण करनेवाले भावों (वस्तुओं) से पुष्ट हो जाता है[3]।

१—लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव वा।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते। च० शा० १

२—षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयोभवत्यधिकमन्येभ्योमासेभ्यः। (च०)।
षष्ठे बुद्धिः। (सु०)। बलवर्णौजसां वृद्धिः षष्ठे मातुः श्रमोधिकः। (का०सं०)
षष्ठे केशरोमनखास्थिस्नाय्वादीन्यभिव्यक्तानि बलवर्णोपचयश्च। (अ० सं० २)
षष्ठे मासे मुखनासिकाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति। —(गर्भोपनिषद्)।

३—गर्भः सर्वैर्भावैराप्यायते सहसा, तस्मात्तदा गर्भिणी सर्वाकारैः क्लान्ततमा भवति। —च०

वक्तव्य—इस मास में गर्भ की लम्बाई लगभग ११ इंच (२६–५–से० मी०) और भार पौने दो सेर का होता है। नेत्रवर्त्म खुल जाते हैं। कनीनकच्छद नामक कला धीरे-धीरे विलीन हो जाती है। सम्पूर्ण शरीर मृदु तथा सूक्ष्म लोमों से आच्छादित हो जाता है। आन्त्र में काला-हरे रङ्ग का गर्भमल मिलता है। त्वचा के नीचे अधिक मेद का सञ्चय होने से गर्भ के त्वचा की बलियाँ (झुर्रियाँ) दूर हो जाती है। अण्ड ग्रन्थियाँ कुछ नीचे को उतरती हैं, गर्भ प्रसव के बाद कुछ काल जीवित रह सकता है। संक्षेप में जीवनोपयोगी सब अङ्गों की कम-से-कम जितनी वृद्धि होनी जरूरी है, उतनी वृद्धि इस मास में होती है।

गर्भोपनिषद् में लिखा है कि-"जीव से युक्त हो जाने के कारण यह गर्भ जीने योग्य हो जाता है—अर्थात् इस मास की आखिरी में बालक का जन्म हो जाये तो उसकी विधिवत् परिचर्या करने से वह जीवित रह सकता है[1]। किन्तु यह बालक अकाल प्रसव होने के कारण दीर्घायु और तन्दुरुस्त नहीं होता है[2]। नव्यमत वाले भी इस मास के अन्त में बालक की उत्पत्ति मानते हैं।

गर्भेणोत्पीडिता दोषास्तस्मिन् हृदयमाश्रिताः।
कण्डूं विदाहं कुर्वन्ति गर्भिण्याः किक्विसानि च ॥ ५८ ॥

गर्भ के कारण उत्पीडित हुए वातादि दोष गर्भ-समय में हृदय में आश्रित हो कर गर्भवती के कण्डू तथा विदाह और किक्विस रोग उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—गर्भावस्था में त्वचा में भी परिवर्तन होते हैं। उदर की त्वचा पर तनाव पडने के कारण गर्भाशय के बढ़ने से उपत्वचा

१–सप्तमे मासे जीवने संसक्तो भवति। —गर्भोपनिषद्

२–तेन सर्वेण जन्मजीवनलक्षणेन अर्थेन अङ्गैश्च सम्पूर्णो भवत्यवतिष्ठते। तथा चास्मिन् सातमे मासि गर्भो जातो जीवति, किन्त्वकालप्रसवत्वान्न तथा दीर्घजीवितत्वादिकं स्यादिति अरुणदत्तः।

फट जाती है, इस रोग को 'किक्विस' कहते हैं। त्वचा के विभिन्न स्थलों पर रंजक द्रव्यों का संचय होकर काले दाग बन जाते हैं। त्वचा में मिलनेवाली स्वेद और स्नेह ग्रन्थियों की क्रिया बढ जाती है। किक्विस नाभि को केन्द्र करके वृत्ताकार रूप में फैलते हैं और भगसन्धानिका तक पहुँचते हैं। स्तनों पर भी किक्विस उत्पन्न होते हैं। प्रथम तो गुलाबी रङ्ग की ये रेखाएं होती हैं, बाद में श्वेत वर्ण में परिणत हो जाती हैं। किक्विस गर्भावस्था के अतिरिक्त जलोदर, बीजकोष-ग्रन्थि अथवा अतिशय मेदस्वी उदरों में जिनमें उदर की त्वचा पर तनाव पड़ता है, उनमें भी होते हैं। चरक ने कहा है कि¹—
"स्त्रियाँ कहती हैं कि—सप्तम मास में गर्भ के उत्पन्न हुए केश माता में विदाह पैदा करते हैं, परन्तु भगवान् अत्रेय कहते हैं कि यह ठीक नहीं, क्योंकि तृतीय, चतुर्थ मास में ही केश स्पष्ट प्रकट हो जाते हैं। वास्तव में विदाह का कारण तो उत्पीडित हुए दोष ही हैं। गर्भ के बढ जाने के कारण उत्पीडित हुए वातादि दोष हृदय-प्रदेश में पहुँच कर विदाह को उत्पन्न करते हैं। इस विदाह से कण्डू उत्पन्न होती है और इस कण्डू के कारण किक्विस प्रादुर्भूत होते हैं।

इसी तरह वृद्ध वाग्भट ने कहा है—

उदर प्राचीर अत्यधिक तनने के कारण किक्विस उत्पन्न होते हैं। अतएव ये अन्तिम के तीन महीनों में होते हैं।

ओजोऽष्टमे सचरति मातापुत्रौ मुहुः क्रमात् ॥६२॥
तेन तौ म्लानमुदितौ तत्र जातो न जीवति।
शिशुरोजोऽनवस्थानान्नारी संशयिता भवेत् ॥६३॥

अष्टम मास में रस ले जाने वाली तथा लाने वाली रसवाहिनी धमनियों द्वारा ओज पुनः पुनः गर्भ से माता में तथा माता से गर्भ

१—तन्नेति भगवानात्रेयः। किन्तु गर्भोणोत्पीडिता वातपित्तश्लेष्माण उरः प्राप्य विदहन्ति। (चरक)। उरुस्तनोदरे बलिविशेषा रेखाकारास्तत्काले प्रायो ये जायन्ते ते किक्विससंज्ञाः। (अ० द०)। किक्विसश्चर्मविदरणम् च० पा०। रेखास्वरूपस्त्वक्संकोचः किक्विसम्। इन्दु।

में आता-जाता रहता है। इसलिये गर्भ कभी म्लान तथा कभी प्रसन्न होता है, गर्भ में ओज के अस्थिर होने से उत्पन्न हुआ बालक नहीं जीता है। इसलिये माता को संशय होता है कि बालक जीयेगा या नहीं।

वक्तव्य—इस मास में बारह इंच (३२-२ से. मी.) लम्बा और भार में सवा दो सेर (४॥ पौण्ड) का होता है। शिरःप्रसेक के केश जो पहिले विरले थे वे अधिक घने हो जाते हैं। गर्भ-लोम क्षीण होने लगते हैं। नख अंगुल के किनारे तक नहीं पहुँचे रहते हैं। अधस्त्वक् वसा की अधिक वृद्धि होने लगती है।

आयुर्वेद महर्षियों ने इस मास की अपूर्व विशेषता दिखाई है। चरक-सुश्रुत-संग्रह-काश्यपसंहिताकार आदि का मत है कि गर्भ के इस मास में "ओज" अस्थिर रहता है। इस ओज के अस्थिर होने से गर्भ का जन्म विपत्ति युक्त होता है[1]।

इन्दु के मत से प्रसवकाल में शिशु के बाहर निकलते समय यदि ओज का वियोग हो जाये तो वह मर जाता है, यदि ओज युक्त हो तो जीवित रह सकता है, अर्थात् ओजःस्थिति ही जीवन का कारण है। इसी आधार पर विज्ञानेश्वर ने भी लिखा है कि "अनेनौजः स्थितिरेव जीवनहेतुरिति दर्शयति"। काश्यप संहिता में भी—

१-अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाते गर्भस्यासम्पूर्णत्वात्। चरक। अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः। सुश्रुत। तत्र मातृशरीरं गत ओजसि यदि गर्भं प्रसूते तदा स जातो विनश्यति, यदा गर्भशरीरं प्राप्ते ओजसि गर्भो निष्क्रामति तदा ओजसः सद्भावात् जातो जीवत्यत्र माता यतः स्थिरौजस्का भवत्यतः सा केवलं म्लाना भवति न तु विपद्यते तस्यास्तु सम्बन्धिन ओजसः स्तोकमात्रं गर्भशरीरं संक्रामति। इन्दुः।

स्त्रीगर्भावन्योन्यस्य ओजसी हरतोऽष्टमे। तस्मात्तदा प्रसूतिः गर्भविनाशायैव। (च. शा. ४ जतुकर्णवचनम्)।

अष्टमे गर्भिणी गर्भावाददाते परस्परम् ।
ओजो रसवहा युक्तैः पूर्णत्यागाच्छलत्यपि ।
तस्मात्तत्र मुहुर्म्लाना मुहुर्हृष्टा च गर्भिणी ।
अत्ययं चाप्नुते तस्मान्न मासो गण्यतेऽष्टमः ।

ओज—आयुर्वेद-सिद्धान्त से मानव देह में एक अत्यन्त महत्त्व का पदार्थ माना गया है। इसकी उत्पत्ति आहाररस से ही होती है तथा ओज रसादि धातुओं का सारभूत है। यह शीतवीर्य, किञ्चिद् रक्त तथा पीत वर्ण, स्निग्ध, पिच्छिल एवं तरल पदार्थ है। यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर प्रसरण शील है। इसका स्थान हृदय है। यह शरीर की वृद्धि करता है, शरीर में कार्य करने की शक्ति प्रदान करता है तथा शरीर को रोगक्षम बनाता हुआ शरीर का धारण करता है। ओज के विषय में प्राचीन आचार्यों में बहुत मतमतान्तर मिलते हैं। आधुनिक विद्वानों में भी मत भिन्नताएँ हैं। चक्रपाणि पर और अपर भेद से दो प्रकार के ओज मानते हैं। पर-ओज ही हृदय में रहता है, और यह अष्टबिन्द्वात्मक है। इसके नाश होने पर मृत्यु हो जाती है। अपर-ओज धमनियों में रहता है। उसका परिणाम अर्द्धाञ्जलि है। इसकी न्यूनता होती रहती है। मधुमेह में इस ओज का ही मूत्र द्वारा निर्गम होता रहता है। आयुर्वेद में ओज शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ सन्दर्भानुसार आचार्यों ने तथा टीकाकारों ने किये हैं। यथा—१ रसधातु, २ रक्त, ३ अष्टबिन्दु परिमित सर्वधातुओं का सारभाग, ४ द्राक्षाशर्करा, ५ शुक्रसार, ६ शरीरोष्मा, ७ शुक्र, ८ प्राकृत-श्लेष्मा आदि। तथा हेमाद्रि ने भी "धातूनां तेजसि रसे तथा जीवित-शोणिते। श्लेष्मणि प्राकृते वैद्यैरोजःशब्दः प्रकीर्तितः" (अ० हृ० सू० ११ श्लो. ४०) महर्षि श्री भेड़ ने भी "इह खलु ओजस्तेजः शरीरे नित्ये च भवति। तयोः स्थानानि द्वादश भवन्ति। तद्यथा वा (रस) शोणित-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जा-शुक्र-स्वेद-पित्त-श्लेष्म-मूत्र-पुरीषाणीति।" (भेलसंहिता शा. ५ अ.) इत्यादि।

क्षीरपेया च पेयाऽत्र सघृताऽन्वासनं घृतम् ।
मधुरैः साधितं शुद्धयै पुराणशकृतस्तथा ।। ६४ ।।
शुष्कमूलककोलाम्लकषायेण प्रशस्यते ।
शताह्वाकल्कितो बस्तिः सतैलघृतसैन्धवः ।। ६५ ।।

अर्थ—इस अष्टम मास में घृतयुक्तक्षीरपेया पीने के लिए देनी चाहिये तथा अनुवासन घृत का प्रयोग प्रशस्त होता है। यह घृत द्राक्षादि मधुर पदार्थों से साधित होना चाहिये। पुराने मल की शुद्धि के लिये यह उत्तम है। शुष्क मूली, बदर, अम्ल कषाय तथा शताह्वा (सौंफ) के कल्क से साधित तैल एवं घृत कुछ सैन्धव से युक्त बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—पेया यह यवागू का ही भेद है। यवागू के मण्ड, पेया, विलेपी यह तीन भेद होते हैं। यह पेया षड्गुण जल में तण्डुल डालकर खूब पकावे तथा मण्ड की तरह छाने नहीं, यह द्रव सहित भक्तावयव युक्त पदार्थ होता है, अर्थात्—इस पेया में द्रव भाग अधिक और स्निग्ध कम होता है। यह पेया-विधान चक्रपाणि निर्दिष्ट "षडङ्ग-परिभाषैव प्रायः पेयादिसम्मता" के आधार पर है। यद्यपि इसके विधान में सुश्रुत-मदनपालादि में विभिन्न मत हैं तथापि "पेयां वै षड्गुणेऽम्भसि" इस वचनानुसार यह लिया है।[1] सुश्रुत[2] वृ० वाग्भट[3]

१—यवागूस्त्रिविधा प्रोक्ता मण्डः पेया विलेप्यपि।
सिक्थकै रहितो मण्डः पेयासिक्थसमन्विता।
..... पेयां वै षड्गुणेऽम्भसि। (द्रव्यगुण द्वि. खण्डे स्व० गुरुदेव श्री यादवाचार्याः)

२—अष्टमे वदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तुतैललवणमदनफल-मधुघृतमिश्रेणास्थापयेत् पुराण पुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः। (सु. शा. १०)

३—पुराणविड्शुद्ध्यर्थं मधुकादिमधुरौषधसिद्धेन च तैलेनानुवासयेदनुलोमाय वायोः अनुलोमे हि मारुते सा सुखमनुपद्रवा प्रसूते। (वृ. वा. शा. ३)। पुराणं संचितं पुरीषं शोधयित्वा तदर्थमेवानुवासयेन्मधुकादिसिद्धतैलेन। पुराणाया विशः शोधनादनुलोमो वायुः प्रसूतये सुखो भवतीति—इन्दुः।

के मत से आंतों में रुके हुए पुराने मल को बाहर निकालना तथा वायु का अनुलोमन करने के लिये मुलहटी आदि मधुर गणसिद्ध तैल से अनुवासनबस्ति देनी चाहिये, वायु का अनुलोमन होने पर सुखपूर्वक स्त्री बिना कोई भी उपद्रव के प्रसव करती है।

यह बस्ति गर्भिणी को न्यून मात्रा में देनी चाहिये। इस तरह करने में मार्ग के अच्छी तरह खुल जाने पर औषध अच्छी तरह शरीर के भीतर प्रविष्ट हो जाती है। चरकने "अष्टमे तु मासे क्षीरयवागूं सर्पिष्मतीं काले काले पिबेत्—" द्वारा सर्पिष्मती क्षीर यवागू का समय-समय पर उपयोग करने का आदेश दिया है। शुष्कमूलादि द्रव्यों के क्वाथ तथा शतपुष्पा कल्क से सिद्ध किया हुआ तैल अथवा घृत कुछ सैन्धव नमक मिलाकर बस्ति कर्म-विधि से प्रयोग करे। शुष्कमूलक के गुण—"त्रिदोषशमनं शुष्कं विषदोषहरं लघु" (सुश्रुत)। "विशुष्कन्तु मूलकं कफवातजित्" (चरक) शुष्कं त्रिदोषशमनं शोथघ्नं गरजिल्लघु" राजवल्लभ। कोल—कोल बदरी। च शा ८ गद्य ३२ की टीका में चक्रपाणि) कर्कन्धूकोलबदरशब्देन त्रिप्रकारकबदरग्रहणम् (च. क. अ. ११।८ चक्रपाणी) सौवीराल्लघु संपक्वं मधुरं कोलमुच्यते (डल्हण) कोलं च बदरे कोला पिप्पली चव्यभेषजे हेमः। हेमाद्रिने "कर्कन्धु कोलं बदरं सौवीरं सिञ्चितीफलम्। यथोत्तरं मृहत् स्वादु पञ्चधा बदरीफलम्" (अ. हृ. सू. श्लो. १२ टीका) बदरीफल पांच प्रकार का निर्दिष्ट किया है। अम्ल—अम्ल वेतस। "अम्लोऽम्लवेतसो भीमो रसाम्ली वीरवेतसः" ध. नि.। शताह्वा—शतं आह्वा यस्याः। शतपुष्पा मूल में घृतम् इसकी टीका में "अन्वासनं घृतं शस्यते" अरुणदत्त-सम्मत पाठ विचारणीय है, क्योंकि "पयोमधुरकषायसिद्धेन तैलेनाऽनु-

१—गर्भिणीन्तु न्युब्जामास्थापयेदनुवासयेद्वा। तथास्या विवृतमार्गतया सम्यगौषधमनुप्रविशति (वृ. वा. शा. ३)
सर्वस्य च वामपार्श्वस्थस्यास्थापनानुवासनविधाने गर्भिण्या न्युब्जत्वमपवादः। न्युब्जा जानुभ्यामधोमुखी भूमौ स्थिता। तथाहि जठरस्य लम्बत्वाद् बस्तेर्मार्गो विवृतो भवति। इन्दुः।

वासयेत्" (सु. शा. १० अ. २ गद्य. ३) तथा "मधुकादिमधुरौषधसिद्धेन च तैलेनानुवासयेत्" (वृ. वा. शा. ३)। एवं वातविकारों पर विजयार्थ "समीरणं तैलम्" (अ. हृ. उ. १०) से तैल का श्रेष्ठतम विधान होने से घृतं के स्थान पर "हितम्" पाठ उत्तम प्रतीत होता है।

तस्मिंस्त्वेकाहयातेऽपि कालः सूतेरतः परम्।

अष्टम मास के एक दिन अधिक होने से यह प्रसव काल माना जाता है। अर्थात् अष्टम मास के बाद नवम, दशम, एकादश, द्वादश ये चार मास तक प्रसवकाल होता है, इन मासों में उत्पन्न हुआ गर्भ दीर्घायु आदि गुणों से युक्त होता है।

वक्तव्य—इस श्लोक में गर्भ के प्राकृतकाल का निर्देश किया है। इस समय को कालप्रसव कहते हैं। चरक[1] सुश्रुत[2] अष्टाङ्गसंग्रह[3] कारों ने भी इसी मत का समर्थन किया है। किन्तु चक्रपाणि की व्याख्यानुसार कुछ चरक की पुस्तकों में नवम-दशम मास ही को कालप्रसव माना है। कुछ प्रतियों में आद्वादशान्मासात् ही पाठ मिलता है। चरक के आधार पर ही स्मृतियों में[4] तथा वर्तमान में उपलभ्यमान सुश्रुत-चक्रदत्त-वृद्धवाग्भटादि में गर्भस्राव प्रतिषेधक मासानुमासिक क्रम का दश मास के

१—तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरादशमान्मासात्। एतावान् प्रसवकालः (चरक शा. ४)।
"आदशमाद्" इति वचनं प्रशस्ततर प्रसवकालाभिप्रायेण। सुश्रुते द्वादशमास पर्यन्तं सम्यक् प्रसवकालाभिधानं स्तोकदोषयोरेकादशद्वादशमासयोरल्पदोषत्वेनाऽदोषपक्ष एव निःक्षेपाद् बोद्धव्यम्। (चक्रपाणि)

२—नवम दशमैकादश द्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते। (सुश्रुत शा. ३)

३—तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि प्रसवकालमाहुरासम्वत्सरात्।
(अ. सं. २ शा.)
यावद् गर्भग्रहणात् सम्वत्सरं तावन्नवमान्मासात् प्रभृति चातुर्मासं प्रसवकालमाहुः। (इन्दु)

४—नवमे दशमे वापि प्रबलैः सूतिमारुतैः।
निःसार्यते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सज्वरः॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।८३)।

लिये ही वर्णन मिलता है, इससे यह स्पष्ट होता है कि उत्तम प्रसवकाल नवम-दशम मास का ही है, इन दोनों में भी दशम मास अधिक प्रशस्त होता है।

वर्षाद्विकारकारी स्यात् कुक्षौ वातेन धारितः ॥ ६६ ॥

वर्ष के बाद विकृति कारक प्रसवकाल होता है, यह गर्भ वायु से उदर में धारित होता है, इसलिए इसका बाहर आना रुक जाता है तथा अवश्य विकार करता है।

वक्तव्य—ऊपर के २ श्लोकों में कालप्रसव तथा कालातीत प्रसव की मर्यादा कही गई है। इस श्लोक में १ वर्ष के बाद कुक्षि में जब गर्भ रह जाती है, तब उसका आकार और वजन बढ़ जाता है, इस कारण बाहर निकालने में अधिक काल लगता है, तथा कष्ट भी अधिक होता है, यह प्रसवकालातीत मर्यादा के अतिक्रान्त होने से गर्भ तथा गर्भिणी दोनों को ही विकारोत्पादक होता है। नवम मास से लेकर द्वादश मास के बाद जो गर्भ माता की कुक्षि में रहता है वह विकार उत्पन्न करने वाला होता है। चरक[1] सुश्रुत[2] अ० संग्रह ने भी[3] विकृति कारक ही बतलाया है। वायु—अपानवायु। इस प्रसवकाल का माध्यम दश मास है, गर्भ-जन्म साधारणतया दश मास हो जाने पर होता है। नवम मास के गर्भ में अण्ड अण्डकोश में आजाते हैं, उर्वस्थि के भाग में अस्थि-विकास-केन्द्र उत्पन्न हो जाते हैं। दस मास का गर्भ लम्बाई में २० इंच और भार में साढ़े तीन सेर के अन्दाज होता है, हाथ के नख बढ़ जाते हैं, शिर के बाल १ इंच के लगभग लम्बे होते हैं, देह पूर्ण होता है।

शस्तश्च नवमे मासि स्निग्धो मांसरसौदनः।
बहुस्नेहा यवागूर्वा पूर्वोक्तं चानुवासनम् ॥६७॥

१—वैकारिकमतः परं कुक्षावस्थानं गर्भस्य। (चरक शा. ४)

२—अतोऽन्यथा विकारी भवति। (सु. शा. ३)

३—सम्वत्सरात्परं च त्रयोदशादिषु मासेषु अन्तःस्थितो गर्भो विकारित्वं भजते॥ (इन्दु)। विकारकारी भवेद्, विकारमवश्यं करोति। (अ. द.)

नवम मास में स्निग्ध मांस-रस युक्त ओदन हितकारक होता है, अथवा अधिक स्नेह युक्त यवागू देनी चाहिये, किंवा पूर्वोक्त घृत मधुर द्रव्यों से साधित देना चाहिये।

वक्तव्य—अष्टम मास के बाद से ही गर्भिणी के वायु शमनार्थ स्निग्ध पदार्थों के सेवन का उपदेश चरक[1] सुश्रुत[2] संग्रह[3] कारों ने भी बतलाया है, स्निग्ध पदार्थों के सेवन से वायु का प्रशमन होने से तथा अनुवासन विधियों से वायु का अनुलोमन होने पर गर्भवती सन्तति का सुख पूर्वक प्रसव करती है, तथा उपद्रव रहित रहती है। इसलिये इस मास से लेकर प्रसवकाल तक स्निग्ध मांसरसौदन अत्यधिक स्निग्ध यवागू, सुश्रुत वाग्भट-मत से जांगल प्राणियों के मांस-रस का भी प्रयोग करें। चरक में जांगल रस का अभिधान नहीं है।[4]

तत एव पिचुं चास्या योनौ नित्यं निधापयेत्।
वातघ्नपत्रभङ्गाम्भः शीतं स्नानेऽन्वहं हितम् ॥६८॥

अनुवासन—घृत का पिचु (रुई का फोहा) गर्भिणी की योनि में सदा रखना चाहिये, तथा वातहर द्रव्यों के पत्रों को इकट्ठा करके उनका क्वाथ बनाकर शीतल होने पर प्रतिदिन गर्भिणी को स्नान करने के लिये देना चाहिये।

वक्तव्य—चरक ने भी सगर्भा की योनि में तैल-पिचु रखने के लिये अनुवासनबस्ति द्वारा प्रयुक्त तैल का वर्णन करते हुए "नवम मास में गर्भिणी को मधुरौषध से साधित तैल से अनुवासन करना चाहिये, तथा इसी तैल से पिचु को गर्भाशय और गर्भ के स्नेहन के

१-नवमे तु खल्वेनां मासे मधुरौषधसिद्धेन तैलेनानुवासयेत् (च.)।

२-अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकालात्, एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूते। (सु. शा. १०)।

३-तत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपचरेदाप्रसवकालादिति भगवान् धन्वन्तरिः। (अ. संग्रह शा. ३)

४-चरकस्यतु जाङ्गलरसानभिधानम् (इन्दु)।

लिये योनि में रक्खे[1]" यद्यपि सुश्रुत में योनि में तैलपिचु रखने का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, किन्तु शारीरस्थान के दशमाध्याय में "अनुवासयेत्" इस पद में इसका भी समावेश हो जाता है। वृ० वाग्भट्ट[2] ने तो स्पष्ट लिखा ही है। गर्भस्थानमार्ग स्नेहनार्थ योनि में तैलपिचु रखने में अत्यन्त उपयोगी तत्व भी व्यवहारसिद्ध है। यह तैलपिचु एक तरह का गर्भाशय एवं गर्भनिर्गमन मार्ग का अभ्यंग है। अभ्यङ्ग जैसे त्वच्यादि गुणप्रद होता है, उसी तरह योनि में भी तैलपिचु रखने से योनि मार्ग मृदु होता है, त्वचा की रूक्षता का अभाव, योनि में वायु से स्फुटन नहीं होता तथा तनाव सहन करने का सामर्थ्य होता है। प्रसवकाल में खूब तनाव होता है, इसलिये योनि-मार्ग की रक्षा तथा अधिक तनाव से योनि में होनेवाले विदार आदि से बचाने के लिये तैलपिचु अत्यन्त आवश्यक है। तैलपिचु को रात्रि में सोते समय योनि में रखकर प्रातः-काल निकाल देवें। यह विधि अत्यन्त उपादेय तथा सर्वथा लाभप्रद है।

वातघ्नपत्रभङ्गाम्भः—वातघ्न,[3] बिल्व, कार्पास, फम्फणा—पाटली, पिचुमन्द, अग्निमन्थ, जटामंसी, एरण्ड इनके पत्तों को कूटकर बनाया हुआ शीतलक्वाथ जल। अरुणदत्त के मत में भङ्ग-समूह[4]। इन द्रव्यों के क्वाथ-जल से प्रतिदिन स्नान करने से वायु का प्रशमन होता है।

१–अतश्चैवास्यास्तैलात् पिंचुं योनौ प्रणयेत् गर्भस्थानमार्गस्नेहनार्थम्। (चर. ८ शा.)

२–नवमेतु तत एवानुवासनतैलात् पिचुं योनौ प्रणयेद् गर्भमार्गाशययोः स्नेहनार्थमिति। (वृ. वा. ३ शा.)

पिचुं योनौ धारयेत्। तेन हि गर्भप्रसूतिमार्गे गर्भाशये च स्नेहः संपद्यते। (इन्दु)।

३ – बिल्वकार्पासीफम्फणापाटलीपिचुमन्दाग्निमन्थमांसीवर्धमानकपत्रभङ्गक्वाथेन शीतेन सर्वगन्धोदकेन वा गर्भिण्याः प्रत्यहं स्नानमुपदिशेत्। (अ. सं. शा. ३)।

४–वातघ्नानां द्रव्याणां पत्राणि, तेषां भङ्गः समूहः (अ. द.)। पत्राद् भङ्गानि पत्रभङ्गानि (इन्दु)। फंफाल–'शेवाल इति लोके पर्यायः।

निःस्नेहाङ्गीं न नवमान्मासात् प्रभृति वासयेत् ।

नवम मास से लेकर गर्भिणी को सदैव स्नेह से अभ्यङ्ग करते रहना चाहिये। अर्थात् तैलादि से शरीर के सभी अङ्गों को स्निग्ध रखने चाहिये। इस अवस्था में वात की वृद्धि होती है। यह सभी उपाय वायु के प्रशमनार्थ हैं।

वक्तव्य—न निःस्नेहाङ्गी[1]—सस्नेहाङ्गी। नवम मास से लेकर जबतक मुक्त गर्भशल्या न हो, तबतक प्रतिदिन होने वाले कुपित वायु के रक्षार्थ सदैव तैल की मालिश करनी चाहिए।

प्राग्दक्षिणस्तनस्तन्या पूर्वं तत्पार्श्वचेष्टिनी ॥६९॥
पुन्नामदौर्हृदप्रश्नरता पुंस्वप्नदर्शिनी ।
उन्नते दक्षिणे कुक्षौ गर्भे च परिमण्डले ॥७०॥
पुत्रं सूतेऽन्यथा कन्यां या चेच्छति नृसंगतिम् ।
नृत्यवादित्रगान्धर्वगन्धमाल्यप्रिया च या ॥७१॥

जिस सगर्भा के प्रथम दक्षिण स्तन में दुग्ध आता है, तथा दक्षिण पार्श्व से ही कार्य करती है। पुंलिङ्ग नाम वाले दौर्हृदों के पूछने में रुचि हो, तथा पुरुष लिङ्ग के ही स्वप्नों को देखे, दक्षिण की तरफ का उदर भारी हो, गर्भ भी परिमण्डल (गोलाकार) हो, ऐसी स्त्री पुत्र को उत्पन्न करती है। इस के विपरीत लक्षणों वाली कन्या को उत्पन्न करती है। जो पुरुष की अभिलाषा करती है, तथा नाचना, गाना, बाजा बजाना, गन्ध-माल्य आदि से प्रेम करती हो, उसको कन्या उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—इन श्लोकों में गर्भिणी के अव्यभिचारि पुत्र-कन्या-प्रसव के लक्षणों का अनुमान किया गया है। तत्पार्श्वचेष्टिनी—दक्षिण पार्श्व से गमन, स्वप्न, दक्षिण पादगमन, दक्षिणबाहु चेष्टा आदि सभी लिये गये हैं। पुन्नाम—आम्र, दाडिम, अशोक, कमल आदि।

१—निःशेषेण निरस्तः स्नेहो यस्मादङ्गात्तदेवं निःस्नेहमंगं यस्याः सा निःस्नेहाङ्गी। तां न वासयेत्, अपितु सस्नेहाङ्गीं स्थापयेत्। (अ. दत्त)।

दौर्हृदसगर्भावस्था में गर्भिणी की जो अभिलाषा होती है, उसको दौर्हृद कहते हैं। पुंस्वप्रदर्शिनी--पुरुष वाचक स्वप्न—पुरुष गजवाजि-वराहादि। परिमण्डल-वर्तुल। चरक, सुश्रुत, वृ. वाग्भट्ट ने भी यही वर्णन किया है[१]। किन्तु चरक ने प्रथम पुत्रोत्पत्ति का वर्णन न करके कन्योत्पत्ति का वर्णन किया है और सब प्रायः समान ही है। अष्टांग संग्रह में क्षुधा का अधिक लगना, नाभि से नीचे रोमराजी ऊर्ध्वमुखवाली हो यह अधिक है।

क्लीबं तत्संकरे, तत्र मध्यं कुक्षेः समुन्नतम्।
यमौ पार्श्वद्वयोन्नामात् कुक्षौ द्रोण्यामिव स्थिते ॥७२॥

जिस गर्भिणी के संकर लक्षण न हो। अर्थात् पुत्र और कन्या इन दोनों के लक्षण हो, उदर का मध्यभाग उन्नत हो, उसके नपुंसक गर्भ[२] उत्पन्न होगा, जिस सगर्भा के दोनों कुक्षियाँ अलग-अलग उन्नत मालूम हो और मध्य भाग द्रोणी की तरह हो—उसके दो गर्भ उत्पन्न होते हैं[३]।

वक्तव्य—जिसके कुक्षि का मध्यभाग उन्नत हो। चरक में केवल व्यामिश्रलिङ्ग--अर्थात् कन्या और पुत्र दोनों की गर्भस्थिति

१—सव्याङ्गचेष्टा पुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा।
सव्यात्तगर्भा न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते ॥२४॥
पुत्रं त्वतो लिङ्गविपर्ययेण (च. शा. २)
तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति दक्षिणाक्षिमहत्त्वं च, पूर्वंच दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति स्वप्नेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातकादीनि पुन्नामान्येव प्रसन्नमुखवर्णा च भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद्विपर्यये कन्याम्।
(सु. शा. ३)
तत्र या दक्षिणं पादं...तीक्ष्णक्षुदूर्ध्वरोमराजिः पुरुषानभिलाषिणी च सा पुत्रं प्रसूते, तद्विपर्यये कन्याम् (अ. सं. २ शा.)।
२—व्यामिश्रलिङ्गा प्रकृतिं तृतीयाम्। (च. शा. २)
३—यस्याः पार्श्वद्वयमुन्नतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागभिहितलक्षणं च तस्या नपुंसकमिति विद्यात्। यस्या मध्ये निम्नं द्रोणीभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति।

के लक्षण मिलते हो वह स्त्री तृतीय प्रकृति (नपुंसक) को उत्पन्न करती है। वहां कुक्षि का उन्नत होना नहीं लिखा है। सुश्रुत ने पार्श्वद्वय का उन्नत होना, उदर का अगाड़ी निकलना क्लीब के लक्षणों में लिखा है। यमके लक्षण में केवल उदर मध्य में दबा हुआ द्रोणी के आकार का बतलाया है, यह हृदय तथा सुश्रुत में भेद है। वृ. वाग्भट्ट ने केवल संकर लक्षणों से ही क्लीब का वर्णन किया है। द्रोणी—जल भरने के लिये पत्थर या लकड़ी का जो बड़ा पात्र होता है, उसको द्रोणी कहते हैं[1]। इस प्रकरण में द्रोणीशब्द से उदर का अधिक बड़ा होना अभिप्रेत है। यह देखने में आता है कि जब पेट में दो गर्भ होते हैं, तब नाभि के समीप उदर की परिधि एक गर्भ की अपेक्षा दो से चार इञ्च तक अधिक बढ़ जाती है!

सूतिकागृह

प्राक्चैव नवमान्मासात् सूतिकागृहमाश्रयेत्।
देशे प्रशस्ते सम्भारैः सम्पन्नं साधकेऽहनि ॥३॥

नवम मास से पूर्व ही गर्भिणी स्त्री को सूतिकागृह में आश्रय लेना चाहिये। यह गृह उत्तम स्थान में समस्त साधनों से सज्जित रहना चाहिये, तथा शुभ पुरुष वाचक नक्षत्र वाले दिन में इस घर में प्रवेश करना चाहिये।

वक्तव्य-सूतिकागार--जहां पर गर्भवती प्रसव करती है तथा प्रसव के बाद कुछ दिनों तक रहती है, उसको सूतिकागार[2] कहते हैं। नवम मास से पूर्व ही गर्भिणी के लिये सूतिकागृह तैयार हो जाना चाहिये--अर्थात् नवम मास में सगर्भा सूतिकागार में आश्रय लेती है, इसलिये सूतिकागृह अष्टम मास के अन्त तक अच्छी तरह बन जाना चाहिये[3]

१-दारुरचिता नौसदृशी। 'टब' इत्याख्याते (सु. शा. ३) पात्रविशेषे।"
" द्रोणी काष्ठाम्बुवाहिनी—इत्यमरः।

२-यत्र च तिष्ठति तत् सूतिकागारम् (चक्रपाणि)।

३-प्राक्चैवास्या नवमान्मासाद सूतिकागारं कारयेत्। (चरक)

प्रशस्ते देशे यह–गृह ऐसे स्थान पर होना चाहिये जहां पर अस्थि, रेती तथा कपाल (मिट्टी के टुकडे) न हों तथा प्रशस्त अर्थात्-श्रेष्ठ रूप-रस-गन्ध युक्त भूमि[१] में बिल्व के काष्ठों से बनाना चाहिये । इसका द्वार पूर्व या उत्तर की तरफ होना चाहिये[२] । सम्भार–प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री अर्थात् अग्रोपहरणीय द्रव्य । चरक[३] में इनका निर्देश इस तरह किया है "सूतिकागार में घृत, तैल, मधु, सैन्धा नमक, सौवर्चल, विडलवण, वायविडंग, कुष्ठ, देवदारु, सोंठ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, हस्तिपिप्पली, मण्डूकपर्णी, एला, कलिहारी, वचा, चव्य, चित्रक, करंज, हिंगु, सरसो, लशुन, जीरक, अग्निमन्थ, कदम्ब, अतसी, काली मिर्च, सुरा, आसव आदि औषधियाँ ।

यह सूतिकागृह[४] शुभ्र वस्त्र, शुभ्र आलेपन, शुभ विधान और श्रेष्ठ गुण युक्त गवाक्ष (खिडकी, रोशनदान, अथवा धूआँ आदि बाहर निकलने की जगह) से युक्त होना चाहिये । वास्तुविद्याकुशलों के सिद्धान्तानुसार अग्निस्थान, जलस्थान, उलूखलस्थान, पुरीषस्थान, स्नानागार, महानस आदि यथास्थान बनाना चाहिये । यह सूतिकागृह ऋतु के अनुसार सुखकारी बनाना चाहिये । सूतिकागृह काफी विस्तृत होना चाहिये, जिसमें उपरोक्त साधनों के साथ आवश्यक सभी साधन सामग्री रखने के लिये तथा जाने-आने में किसी तरह की कठिनाई नहीं हो ।

१–अपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे, प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ, बैल्वानांकाष्ठानामागारं कारयेत् (चरक)।

२–प्राग् द्वारमुदक्द्वारं वा (वृ० वा०) चरकश्च ।

३–तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकालविडलवणविडङ्गकुष्ठकिलिमनागरपिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीमण्डूकपर्ण्येला...सुरासवाः सन्निहिताः स्युः (चरक शा. ८)।

४–सूतिकागारं कारयेत् । वास्तुविद्याहृदययोगाग्निसलिलोदूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखञ्च सेवयेत् । (चरक शा. ८)

चरक में बहुत विस्तार से सूतिकागार का वर्णन हुआ है। सुश्रुत में भी सूतिकागृह का वर्णन के साथ "आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौडा" प्रसवागार[1] लिखा है। इन दोनों आचार्यों ने लिखा कि सूतिकागृह बनाने चाहिये। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में अस्थायी रूप से झोपडी की तरह यह बनाने की प्रथा थी। चरक[2] ने स्थान की मर्यादा नहीं बताई है किन्तु उन्होंने निवात प्रवातैक देश, सुख प्रविचार आदि गृह में होने चाहिये, ऐसा निर्देश किया है इससे तो यह स्पष्ट होता है–कि जैसे आधुनिक प्रसूतिगृह सब सामग्रियों से सुसज्जित-सुप्रकाश एवं हवा वाले होते हैं, वैसे प्राचीन काल में भी थे। किन्तु नवीनों की प्रथा के अनुसार अत्यधिक हवा भी नहीं होनी चाहिये, तथा प्राचीन काल की तरह अत्यन्त अन्धेरा और बिल्कुल हवा बन्द भी नहीं होनी चाहिये। प्रसूतिगृह में हवा का प्रबन्ध तथा प्रकाश अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु इनका अतियोग होना हानिकारक है।

आचार्यों ने स्थान के लिये ऐसा आदेश दिया है कि "निवातप्रवातैक देश, आतपवर्जित तथा अन्धकार रहित" होना चाहिये[3]। सामान्यतः सूतिकागृह में एक द्वार से वायु का आगमन होता रहे, जिससे मकान में अच्छी हवा भी मिलती रहे किन्तु इस वायु के आवागमन से प्रसूता तथा बालक को सर्वथा बचाना चाहिये तथा नवजात शिशु एवं प्रसूता के लिये अत्यधिक असह्य प्रकाश तथा

१–अष्टहस्तायतं चतुर्हस्तायतं वा। (सुश्रुत)।

२–दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजसामभिगमनीयमनिष्टानां च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सोदपानोदूखलमूसलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसोपेतं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं गृहमेव तावत्पूर्वमुपकल्पयेत् (चरक सू. १५)।

३–प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातपवर्जिते।
निवाते न च रोगाः स्युः शारीरागन्तुमानसाः॥ (सु. सू. १९)।

बिल्कुल अन्धेरा भी नहीं होना चाहिये । क्योंकि[1] काश्यपसंहिताकार ने प्रकाश के लिये अनभ्यस्त शिशु को प्रकाश सहन करने की बहुत उत्तम विधि बतलाई है। प्रसूता स्त्री प्रसववेदना, तथा रक्तस्राव के कारण अत्यन्त परिश्रान्त होती है, क्योंकि "गर्भ के गर्भाशय में बढने के कारण, शरीर की धातुओं के क्षीण और शिथिल हो जाने से तथा कुन्थन, प्रसववेदना, क्लेद, रक्तस्राव के कारण शरीर शून्य[2] हो जाती है" इस अवस्थामें वायु की अत्यधिक विकृति हो जाने से प्रसूतिका के रोग असाध्य हो जाते हैं, इन कारणों से यह हानिकर होता है।

यद्यपि शुद्ध वायु स्वास्थ्यकर है। शुद्ध वायु जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। शुद्ध वायु से दूषित रक्त की शुद्धि होती है, शुद्ध रक्त शरीर के जीवन में धारण-पोषणकर्म द्वारा सहायता करता है। शुद्ध वायु के न मिलने से स्वास्थ्य में हानि होती है किन्तु प्रसूता तथा नवजात शिशु के लिये अत्यधिक वायु विकारकारक होता है, इसीलिये आचार्योंने "निवात" शब्द देकर अर्थात् जिस स्थान में प्रवाहरहित वायु हो, कहा है। अतएव वायु के स्वतंत्र कार्य प्रजापालन की दृष्टि से बहुत ही महत्व[3] के होते हैं।

निष्कर्ष—सूतिकागृह स्वच्छ और समस्त सब साधनसामग्रियों से सुसज्जित, सम्पूर्ण सामग्री रखने पर भी उसमें संचार करने के लिये किसी प्रकार की असुविधा न हो, प्रशस्त-स्नान वर्चःस्थानादि सुविधा

१–अथ खलु शिशोर्जातस्य तत्कर्मण्यभिनिर्वृत्ते प्रथम एव मासि कृतरक्षाहोम-मङ्गलस्वस्त्ययनस्य सूर्योदयदर्शनावस्थानं, प्रदोषे चन्द्रमसः। (का. सं.)।

२–सूतिकाया यो व्याधिर्भवति स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा।
गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेष-शून्यशरीरत्वाच्च। (च. शा. ८)।

३–वायुः पालयति प्रजाः। वायु के विशेषज्ञानार्थ "वायुस्तंत्रयंत्रधरः—आदि वातकलाकलीय प्रकरण का म. म. स्व. श्री गणनाथसेन सरस्वतीकृत नव्य व्याख्या प्रत्यक्ष शारीर तृतीय भाग में देखना चाहिये।

ऋतु के अनुसार सुखप्रद, प्रचण्डवातातपरहित, प्रवातैकदेश, अतमस्क, असंकीर्ण होना चाहिये।

तत्रोदीक्षेत सासूति सूतिका परिवारिता।

वहां पर सूतिकाओं से युक्त गर्भिणी स्त्री प्रसव की प्रतीक्षा करे।

वक्तव्य—सूतिकागार में एकबार प्रवेश करने के बाद स्त्री वहीं पर प्रसवकाल तक रहती है, तथा उसके पास हमेशा प्रजननकार्य कुशल स्त्रियाँ भी रहा करती हैं। अर्थात् जिन्हें अनेक वार प्रसव हो चुका हो या प्रसव कराया हो, जो मैत्री भाव रखने वाली हों, जो प्रसूता के अनुकूल आचरण करने वाली हों तथा कार्य में दक्ष हों, जो युक्ति कुशल, इशारे को समझने वाली तथा कर्मानुष्ठान में कुशल हों, स्वभाव से क्लेशसहिष्णु हों, विवाद रहित और प्रियवादिनी हों, ऐसी स्त्रियों को रखना चाहिये।[1]

आसन्न प्रसवा के लक्षण—

अद्य श्वः प्रसवे ग्लानिः कुक्ष्यक्षिश्लथता क्लमः॥ ७४॥
अधोगुरुत्वमरुचिः प्रसेको बहुमूत्रता।
वेदनोरूदरकटीपृष्ठहृद्बस्तिवङ्क्षणे॥ ७५॥
योनिभेदरुजातोदस्फुरणस्रवणानि च।

आज अथवा कल प्रसव होनेवाला हो तो ग्लानि, कुक्षि तथा नेत्रों में ढीलापन, क्लम (थकावट) नीचे के भाग में भारीपन, अरुचि, मुख से पानी का गिरना, बहुमूत्रता, उदर, उरु, कटि, पृष्ठ, हृदय तथा वङ्क्षण प्रदेश में वेदना और योनि में भेदादि तथा स्राव होना।

वक्तव्य—प्रसव[2] वह कर्म है, जिसके द्वारा गर्भ स्थिति के सभी घटक गर्भ, गर्भोदक अपरा-जरायु-गर्भाशय को छोड़ कर बाहर निकलते हैं। प्रसव को दो प्रधान वर्गों में विभक्त किया गया है।

१–स्त्रियश्च बह्व्यो बहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ता सततमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः (चरक शा. ८)।

२–प्रसवो नाम कर्मविशेषः, येन गर्भो गर्भोदकं अपरा जरायुश्चेति सर्वं गर्भाशयाद् विमुच्य बहिर्भवति। (अ. प्र. तं.)

१–प्राकृत प्रसव (Normal or physiological labour) २–वैकृत प्रसव (abnormal or pathological labour)

इनमें प्राकृत प्रसव उसे कहते हैं[१]—जिसमें गर्भ अवाक् शिर हो कर मध्य शीर्षका उदय लेकर निरुपद्रव रहते हुए स्वाभाविक रूप से अर्थात् किसी प्रकार की चिकित्सक की सहायता के विना, चौबीस घण्टे के भीतर बालक उत्पन्न होता है। इससे भिन्न अवस्था को वैकृत प्रसव कहते हैं। इस श्लोक में आसन्न प्रसव या प्रसव के पूर्वरूप का वर्णन हुआ है। यह अनिश्चित काल की अवस्था है।

चरक ने—थकावट, शरीर का दुखना, मुख तथा आँखों की शिथिलता, कुक्षि का ढीला पड़ना, उदर के नीचे के भाग की गुरुता, छाती के बन्धन का ढीला होना, वंक्षण, बस्ति, कटि, कुक्षि, पार्श्व, पृष्ठ में पीडा का अनुभव होना, योनिस्राव, अन्न में अरुचि होना आदि[२]। कुक्षि की शिथिलता, हृदय बन्धन (भार) युक्त होना, जघन प्रदेश में पीडा का अनुभव प्रजायिनी में होता है। प्रसव की उपस्थिति में कटी पृष्ठ के चारों तरफ वेदना तथा बार-बार मल और मूत्र की प्रवृत्ति होना एवं योनिमुख से श्लेष्मा का स्राव होना पाया जाता है। (सुश्रुत[३]) इस वर्णन में प्रथम प्रसव-सामीप्य के लक्षण अर्थात् प्रसवकाल समीप आ रहा है, इस बात को बतलाया है। प्रत्यक्ष प्रसव प्रारम्भ के लक्षणों का निर्देश नहीं किया है। इस अवस्था को प्रसव पूर्व लक्षण कहते हैं।

१–सचोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्यावाक्शिरा निष्कामत्यपत्य-पथेन, एषा प्रकृतिः। विकृतिः पुनरतोऽन्यथा इति (च. शा. ८)
आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति।

२–क्लमो गात्राणाम्, ग्लानिराननस्य, म्लानता, अक्ष्णोः शैथिल्यं, विमुक्तबन्ध-नत्वमिव वक्षसः, कुक्षेरवस्रंसनम्, अधोगुरुत्वम्, वंक्षणबस्तिकटीकुक्षिपार्श्वपृष्ठ-निस्तोदो, योनेः प्रस्रवणम्, अनन्नाभिलाषश्च (च. शा. ८)

३–जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने।
सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी।
तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद् वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च। (सु. शा. १०)

यह लक्षण प्रसव के लगभग दो सप्ताह के पूर्व पैदा होते हैं। काश्यपसंहिता में अन्य समस्त लक्षण तो समान ही हैं, किन्तु गर्भाशय नीचे की तरफ आ जाता है, यह स्पष्ट लिखा है[१]। यद्यपि यह अर्थ चरक-सुश्रुत से रूपान्तर से निकलता है, किन्तु यहाँ स्पष्ट कर दिया है। इस समय गर्भाशय कुछ नीचे आ जाने से उसका इस समय उदर में स्थान बराबर हो जाता है, इसमें स्त्री को श्वास-प्रश्वास लेने में सुभीता हो जाता है। चरकीय "विमुक्त बन्धनत्व" का यही भाव है।

वृ० वाग्भट्ट ने भी यही उपस्थित प्रसवा के लक्षण लिखे हैं[२]। सुश्रुतने दूसरे लक्षण आसन्न-प्रसवा के लिखे हैं। ग्लानि - यह पचन संस्थान की विकृति का लक्षण है। "वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टनं भ्रमः। न चान्नमभिकाङ्क्षेत ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत्" (सु० शा० ४।५३) Depression या languar—एक तरह की दुर्बलता।

क्लम—"योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेयः इन्द्रियार्थप्रबाधकः" (सु० शा० ४) Asthenia अरुचि-अरोचक। जिस अवस्था में अन्न सेवन करने में रुचि नहीं होती है। इस अरोचक के अवस्थाभेद से विभिन्न नाम हैं—जैसे "प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः। अरोचकः स विज्ञेयो, भक्तद्वेषमतः शृणु। चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वाऽपि भोजनम्। द्वेषमायाति यज्जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते। कुपितस्य भयार्तस्य अभिचार-

---

१—मुखग्लानिः क्लमोऽङ्गानामक्षिबन्धनमुक्तता।
कुक्षेश्च स्यादवस्रंसस्त्वधोभागस्य गौरवम्।
पृष्ठपार्श्वकटीबस्तिवंक्षणं चातितुद्यति।
योनिप्रस्रवणोदार्यभक्तद्वेषारतिक्लमाः।
(का. सं. जातीय सूत्रीय)

२—तत्रापन्नप्रसवायाः क्लमो ग्लानिर्मुक्तबन्धने इवाक्षिणी निष्ठीविका मूत्रपुरीषबाहुल्यं शिथिलकुक्षिताऽधोगुरुत्वम् अन्नानभिलाषो वेदनोदरहृदयकटीबस्तिवंक्षणेषु तोदभेद शूलस्फुरणस्रवणानि च योन्यां भवन्ति। (वृ. वा. ३ शा.)

हृतस्य च। यस्य नाम्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते"। (वृद्धभोज) "सत्यामपि बुभुक्षायामभ्यवहारासामर्थ्यमरुचिः अभिलषितमप्यन्नं दीयमानं नाभ्यवहरतीत्यन्नानभिनन्दनम्, अन्नस्य श्रवण-स्मरण-दर्शन-गन्धन-स्पर्शैर्यत्रोद्विजते स भक्तद्वेषः। एवं त्रिविधोऽपि रोगश्चरक-सुश्रुताभ्यामरोचकशब्देन संगृहीतः। (मधुकोष) Anorexia वेदना—उरु-उदरादि में वेदना तथा योनि में भेद रुजादि होते हैं।

"उदरादीनां वेदनया सम्बन्धः। तोदादीनि योन्याम्" (इन्दु)

आवीनामनु जन्मातस्ततो गर्भोदकस्रुतिः ॥ ७६ ॥

इसके बाद आवियों की उत्पत्ति होती है तथा उत्तर में गर्भोदक का स्राव होता है।

वक्तव्य—प्रसव क्रम या अवस्था वर्णन की दृष्टि से घटना क्रम के अनुसार प्रसव को तीन भागों में विभक्त करते हैं। १–प्रथमावस्था इसी को प्रसरणावस्था Dilatation कहते हैं।[१] गर्भ बाहर निकलने के लिये गर्भाशय मुख काफी चौड़ा होने की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में यह मुख धीरे-धीरे प्रसारित होता है। यह अवस्था आवी labour pain उत्पन्न होने से ले कर ग्रीवा के पूर्ण विकास पर्यंत तक मानी गई है। इसी अवस्था में जरायु का विदीर्ण हो कर गर्भोदक का निकलना होता है।

(२) द्वितीयावस्था को विशल्यावस्था[२] stage of expulsion

१–ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य (च. शा. ८) तत्रोपस्थित-प्रसवाया इत्यादि सुश्रुतश्च।

ये प्राचीनों के मतमें प्रथमावस्था बोधक वाक्य हैं।

२–सा यदा जानीयात् विमुच्य हृदयम्, उदरमस्यास्त्वाविशति, बस्तिशिरोऽवगृह्णाति, त्वरयन्त्येनामाव्यः परिवर्ततेऽधोगर्भः। (द्वितीयावस्था) च. शा. ८। आव्यो हि नाम प्रसववेदना। आवी प्रसववेदना (डह्लण)

३–यदा च प्रजाता स्यात्तदैवेनामवेक्षेत कदाचिदस्या अपरा प्रपन्नाऽप्रपन्ना चेति (तृतीयावस्था, च. शा. ८) ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य। (च. शा. ८)

कहते हैं। यह ग्रीवा के पूर्ण विकास से ले कर गर्भ के जन्म पर्यन्त मानी गई है। अर्थात् गर्भाशय मुख की पूर्ण विस्तृति के समय से प्रारम्भ होती है।

(३) तीसरी अवस्था को विमोक्षावस्था[१] placental stage कहते हैं। यह गर्भ जन्म होने से ले कर अपरा के गिरने पर्यन्त तक की होती है।

आवी—प्रसव वेदना को कहते हैं। आवी की उत्पत्ति ही प्रसवारम्भ का सूचक है। यह एक प्रकार का गर्भाशय के संकोच से उत्पन्न होने वाला अनैच्छिक सान्तर नियमित शूल होता है। गर्भाशय में पूरे गर्भकाल पर्यन्त अनियमित एवं पीड़ारहित संकोच बराबर हुआ करता है। जब यही संकोच नियमित वेदना के साथ होने लगते हैं—तब उसको आवी कहते हैं। यह प्रसव का द्योतक प्रधान लक्षण है। इस श्लोक में प्रसव काल की प्रथमावस्था का वर्णन है।

इस अवस्था में जब गर्भाशय मुख का पूर्ण विकास हो जाता है, तब आसार के नष्ट हो जाने से मसक विदीर्ण हो जाता और गर्भोदक निकल जाता है। विकृत अवतरणों में जरायु के अकाल में ही फट जाने से ग्रीवा के पूर्ण विकास के पूर्व ही जरायु फट जाती है तथा गर्भोदक का स्राव हो जाता है। सामान्यतः यह अवस्था बाहर से अठारह घण्टे रहती है। इस तरह प्रसवावस्था में निम्न लक्षण होते हैं—

१—गर्भाशय का आकुञ्चन—प्रसववेदना—आवी।

२—ग्रीवा विकसन—(Dilatation of cervix) गर्भाशय मुख विस्तृति।

३—शिरोऽवग्रहण—गर्भस्थैर्य (Fixation of the head)

४—योनिमुख से सरक्त श्लेष्मा का स्राव—

५—जरायु का विदीर्ण होना—(Rupture)

१-तत्रोपस्थितप्रसवाया कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद् वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्ति-मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च। (सु. शा. १०)

यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि आविएं दो प्रकार की होती हैं—१–सत्य—True pain, २–असत्य (False pain) वास्तविक सत्य आवियाँ गर्भाशय के संकोच से उत्पन्न होती हैं, इसमें कटी और पृष्ठ में वेदना होती है। यह व्यथा स्वयं गर्भिणी अनुभव करती है। नियत काल से इसका वेग आता है, गर्भाशय दृढ हो जाता है। योनि परीक्षा से जरायु का उभार दिखलाई पड़ता है। मिथ्या आवियों में बस्ति, आन्त्र-उदर की पेशियों के संकोच के कारण वेदना होती है। वेदना का अनुभव उदर में होता है, अनियत काल में इनका प्रादुर्भाव होता है, इनकी उपस्थिति में गर्भाशय में दृढ़ता नहीं आती तथा योनि परीक्षा से न तो जरायु का उभार ही प्रतीत होता है।

२–द्वितीयावस्था—गर्भजन्मावस्था।

संक्षेप में द्वितीयावस्था में तीन घटनायें होती हैं—

१—गर्भाशय संकोच २–प्रवाहण Bearing down

३—गर्भनिर्हरण।

यह द्वितीयावस्था अप्रजाताओं में दो से तीन घण्टे की रहती है, तथा प्रजाताओं में इसकी मर्यादा बहुत कम होती है।

३–तृतीयावस्था–विमोक्षावस्था[1]

संक्षेप में इस तृतीयावस्था में ये घटनायें होती हैं—

१–गर्भाशय संकोच

२–अपराविमुक्ति

३–अपरानिर्गम या जन्म

४–शैत्यानुभूति

इस तृतीयावस्था में कुछ मिनटों से ले कर एक घण्टे तक या कुछ अधिक भी लग सकता है। अधिक-से-अधिक वीस मिनट तक।

१–यदा च प्रजाता स्यात्तदैवेनामवेक्षेत कदाचिदस्या अपरा प्रपन्नाऽप्रपन्ना चेति। (च. शा. ८)

इस अवस्था में १—स्वेद अधिक आता है, २—शरीर में शैत्यता हो जाना। ३—अत्यधिक शारीरिक पेशियों के श्रम के कारण तथा औदरिक रक्त परिभ्रमण की पुनर्व्यवस्था के हेतु प्रसूता को शीत का अनुभव होता है और physiological chill जाड़ा लगता है।

प्रसवकाल की मर्यादा—प्रजाता स्त्रियों में सामान्य रूप से सम्पूर्ण प्रसव में बारह घण्टे लगते हैं—

इनमें प्रथम में दश, द्वितीय में डेढ तथा तृतीय में आधा घण्टा। यह एक साधारण नियम है, इसके अपवाद स्वरूप में कम समय भी लगता है तथा कई प्रसवों में एक अहोरात्र भी लग जाता है।

निष्कर्ष—प्रथमावस्था में इस श्लोकानुसार आवी की उत्पत्ति और गर्भोदक का स्राव तथा योनिमुख से श्लेष्मा का निकलना पाया जाता है।

अथोपस्थितगर्भां तां कृतकौतुकमङ्गलाम्।
हस्तस्थपुन्नामफलां स्वभ्यक्तोष्णाम्बुसेचिताम् ॥ ७७ ॥
पाययेत् सघृतां पेयाम्—

गर्भोदक के निकलने के बाद उपस्थित गर्भा को जान कर कौतुक और मङ्गलकारक हाथ में दाड़िम, आम्र, आदि पुलिङ्ग फल ले कर अच्छी तरह अभ्यङ्ग करावे। अनन्तर गरम जल से स्नान करे। उसके बाद घृतयुक्त पेया को पिलावे।

वक्तव्य—प्रसूता की तीन स्थितियों का वर्णन हो चुका है। इन अवस्थाओं में एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाते समय सगर्भा को क्लमादि को दूर करने के लिये कुछ आराम लेने की इच्छा होना स्वाभाविक है, क्योंकि एकबार विश्राम लेने के बाद फिर प्रवाहणक्रिया के लिये तैयार करने से आवियों को उत्पन्न कर सकती है। अर्ध गर्भोदक स्राव निकलने के बाद।

उपस्थितगर्भा[१]—गर्भ बाहर आने के लिये गर्भाशय मुखपट आ रहा हो इसी अवस्था को सुश्रुत ने "प्रजनयिष्यमाणा" नाम दिया है[२]।

कौतुक—विशिष्ट काल में रक्षा के लिये बाहू आदि में जो बन्ध बाँधा जाता है। भारतीय सभ्यता में प्रत्येक महत्व के कर्म प्रथम मङ्गल-स्वस्तिवाचन, वेदविहितपद्धत्यनुसार होते थे। उसी का यहाँ दिग्दर्शन किया है।

पुन्नामफलाम्[३]—पुल्लिङ्गी-जिसका नाम हो ऐसा कोई फल, जिसके हाथ में हो ऐसी। ऐसा पुन्नामवाला फल भी पुत्र कामना की पूर्ति की दृष्टि से ही स्त्री के हाथ में देने की विधि है। इसीलिये "पुन्नामदौर्हृदप्रभरता" प्रथम आया है। गर्भ के लिङ्ग की सूचना देने की दृष्टि से सुश्रुत में भी "पुन्नामधेय" शब्द का प्रयोग हुआ है।

अभ्यङ्ग[४]—इससे श्रम (थकावट) दूर होती है, तथा शरीर में नवीन पुष्टिरूप जीवन प्राप्त होता है। वायु प्रशान्त होता है, कष्ट सहने

१–उपस्थितगर्भाम्—अभिमुखीभूतगर्भामाविजन्मोदकस्रावादिना ज्ञात्वा निकटीभूतगर्भत्वादियुक्ताम्। अ. दत्त. इन्दुश्च।

२–प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनाम् (सुश्रुत) प्रसवमाना (डह्लण)

३–पुन्नामफलहस्ताम्। बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति (सु० शा० ६), हस्तस्थं पुन्नामदाडिमादिफलं यस्यास्ताम्। (अ. द.)

४–प्रशान्तमारुताबाधं क्लेशव्यायामसंसहम्।
स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनञ्च त्वगाश्रितम्।
त्वच्यस्य परमोऽभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः।
नचाभिघाताभिहतं गात्रमभ्यङ्गसेविनः॥ (च. सू. ५)
अभ्यङ्गं कारयेन्नित्यं सर्वेष्वङ्गेषु पुष्टिदम्। (भा० प्र०)
कटीपार्श्वपृष्ठसाम्यदेशानीषदुष्णेन तैलेनाभ्यज्यानु-सुखमवमृद्नीयादित्यनेन-कर्मणा गर्भोऽवाक्प्रतिपद्यते (च. शा. ८) स्वभ्यक्तमुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत्। ततः कृतोपधाने मृदूनि विस्तीर्णे शयने स्थितामित्यादि (सुश्रुत शा. १०) स्वभ्यक्तमुष्णोदकपरिषिक्तां सघृतां यवागूं पाययेत् (वृ. वा.)

में सहायक होता है। उष्णाम्बुसेचिताम्—गरम जल से गर्भिणी को स्नान कराने से शरीर की तथा जननेन्द्रिय की शुद्धि होती है, पेशियाँ अधिक कार्यक्षम होती हैं। एवं गर्भिणी प्रसववेदनाओं को भली भाँति सहन कर सकती है। वाग्भट ने भी लिखा है कि "उष्णाम्बुस्नान" अधःकायभाग में विशेष बलप्रद होता है[1]।

पेयाम्—घृतादि से युक्त होने पर प्रसव के परिश्रम में शक्ति देने के लिये यह पुष्टिकर होती है। पेया—पातुं योग्या पेया। एतेनान्वर्थसंज्ञया बहुद्रवत्वमल्पसिक्थत्वं च लक्षणया बोध्यम्। इसलिये द्रव अधिक हो तथा सिक्थ (अन्नकण) कम हो उसको पेया कहते हैं। "पेया सिक्थसमन्विता"। सुश्रुत ने यवागू के मण्ड, पेया, विलेपी ये तीन भेद माने हैं। शिवदाससेन पेया और विलेपी भेद से दो भेद मानते हैं। इसके निर्माण के लिए ऐसे वचन मिलते हैं—

"पेया सिक्थान्विता तोयचतुर्दशगुणकृता"-मदनपाल। "द्रवाधिका स्वल्पसिक्था चतुर्दशगुणे जले। सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया" इति शार्ङ्गधरः। "भक्तं पञ्चगुणे तोये यवागूं षड्गुणे पचेत्। चतुर्दशगुणे पेयां विलेपीं च चतुर्गुणे" इति। "तण्डुलेभ्यस्तिथिगुणे चैकादशगुणेऽम्भसि। साधिता स्वल्पसिक्था तु पेया विज्ञैरुदाहृता"। नावनीतक।

तनौ भूशयने स्थिताम्।
आभुग्नसक्थिमुत्तानामभ्यक्ताङ्गीं पुनः पुनः ॥ ७८ ॥
अधोनाभेर्विमृद्नीयात् कारयेज्जृम्भचङ्क्रमम्।
गर्भः प्रयात्यवागेवं,

इसके बाद स्त्री को मुलायम भूमिशय्या पर सक्थियों को टकनों से मोड कर उत्तानचित्त लिटाकर पुनः-पुनः तैल का अभ्यङ्ग करते हुए नाभि के नीचे मलता रहें, जृम्भा बार-बार तथा चङ्क्रमण जल्दी-जल्दी करे। इस तरह उपचार करने से गर्भ नीचे की तरफ आता है।

१—उष्णाम्बुनाऽधः कायस्य परिषेको बलावहः। (अ. हृ.)

वक्तव्य—यह प्रथमावस्था की उपचार विधि है। तनु-मृदु[1]। रुई की मृदु गद्दी पर सिरहाने में तकियायुक्त बिछाना। वृ० वाग्भट में शयन के ऊपर चर्मपुच्छद का प्रयोग करने को बतलाया है[2]। चरक ने भी मदु गदला आदि का बिछौना ही लिखा है[3]। भूशयने स्थिताम्[4]—खट्वादि पर नहीं सुलावे, भूमि पर ही मदु गद्दा बिछावे। भूशयन का विधान सुश्रुत में नहीं है। चरक तथा वृ० वाग्भट में भूशयन का आदेश है। प्रथमावस्था की अवधि अधिक होने के कारण यदि गर्भिणी को प्रारम्भ से ही पलङ्ग पर लेटा दी जावे तो प्रसव काल में समय अधिक लगने से मन में निराशा एवं चिन्ता उत्पन्न हो जाती हैं, तथा कई घण्टों तक इधर-उधर टहलना भी पडता है इसलिये भूशयन ही उत्तम है।

आभुग्नसक्थिमुत्तानाम्[5]—जानु सिकोड कर पीठ पर लेटना। इसको पृष्ठासन "Dorsel position" कहते हैं। प्रसव काल में स्त्री का आसन-आभुग्नसक्थि--उत्तान ही माना गया है, तथा उत्तम होता है। मूढ गर्भ शस्त्रचिकित्सा के प्रकरण में भी इसी आसन का वर्णन सुश्रुत में हुआ है[6]। नव्यमत में उत्तानासन के साथ पार्श्वासन--करवट लेना "Latrul position" सुविधाजनक होता है। अभ्यक्ता-

---

१–तनौ मृदुनि (अ. द.)

२–ततः सुरक्तार्षभचर्मप्रच्छदे मृदुनि भूमिशयने शयानामुत्तानाम् (वृ. वा. ३ श०)

३–आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यान्मृद्वास्तरणोमपन्नम् (चरक)

४–भूशयने स्थितां मृद्नीयात्—न खट्वादिशयने स्थिताम्

५–आभुग्नसक्थिमुत्तानाम् (सुश्रुत), संकुचितजानुम् (इन्दु), उत्ताना-उपरिमुखी। अधःशयाना। (योगीन्द्र–चरक शा. ७ श्लो० टीका)।

६–उत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या। (सु. चि. अ. १५) आभुग्नसक्थ्या इति संकुचितसक्थ्या (डल्हण)। सक्थि जंघोच्यते। डल्हण।

ङ्गीम्—पुनः पुनः अभ्यङ्ग करने से मृदुता पैदा होती है[१]। आचार्यों ने योनि की मृदुता रखने के लिये ही विशिखान्तर का अभ्यङ्ग करने के लिये लिखा है। चंक्रमण—द्रुत गमन[२]। जृम्भणं चंक्रमणं च पुनरनुष्ठेयम् (चरक)।

निष्कर्ष—पुनः-पुनः तैलाभ्यङ्ग करना, नाभि के नीचे मलना तथा जम्भाई एवं जल्दी-जल्दी चलने से गर्भ नीचे को आता है[३]।

-तल्लिङ्गं हृद्विमोक्षतः॥ ७९॥
आविश्य जठरं गर्भो बस्तेरुपरि तिष्ठति।

इसके लक्षण—हृदय से छूटने के कारण गर्भ जठर (उदर) में प्रविष्ट हो कर बस्ति के ऊपर ठहरता है।

वक्तव्य—स्त्री का हृदयबन्धन छूट जाता है, इसलिये स्त्री को श्वास-प्रश्वास लेने में सुविधा मालूम होती है। चरक ने लिखा है कि "जब यह मालूम हो जावे कि गर्भ हृदय को छोड़ कर नीचे की तरफ आ रहा है, बस्ति शिर को पकड़ रहा है, प्रसव वेदनाएँ शीघ्रता

१—अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः।
धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः। (सु. चि. अ. २४)
स्नेहस्य सिरामुखैः सकलशरीरस्य सन्तर्पणम्भवतीति— डल्हणः
रोमान्तेष्वनुदेहस्य स्थित्वा मात्राशतत्रयम्।
ततः प्रविशति स्नेहश्चतुर्भिर्गच्छति त्वचम्। १।
रक्तं गच्छति मात्राणां शतैः पञ्चभिरेव तु।
षड्भिर्मांसं प्रपद्येत मेदः सप्तभिरेव च। २।
शतैरष्टाभिरस्थीनि मज्जानं नवभिर्व्रजेत्।
तत्रस्थाञ्छमयेद्रोगान् वातपित्तकफात्मकान्। ३।
योनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य, योनिं पुनः पुनः प्रसाधयेत्
(वृ. वा.)

२—चंक्रमणम्—द्रुतगमनम् (अ. द.),
चंक्रमणं—मुहुः पादविहरणम् (गंगाधर)

३—इत्यनेन तु कर्मणा गर्भोऽवाक् प्रतिपद्यते। (च),
अवाक् हृदयबन्धमुक्तोऽधः। (गंगाधर)

करवा रही हैं (वेदनाएँ व्याकुल कर रही हैं) गर्भ नीचे की तरफ परिवृत्त हो गया है[1]" । काश्यपसंहिता में गर्भाशय का नीचे आने का स्पष्ट ही उल्लेख मिलता है ।

"जब शूलसहित गर्भोदक योनि में आ जावे तथा काल से प्रेरित हुआ गर्भ हृदयप्रदेश को छोड कर नीचे आ जाता है, बस्तिशीर्ष तथा उसके अधोभागको पकड लेता है, ग्लानि अत्यधिक होती है, योनि में उत्पीडन तथा भेदन (वेदना) अनुभव हो, तब इन उपरोक्त लक्षणों से यह जाना जाता है कि गर्भ का नीचे की तरफ परिवर्तन हो गया है[2] ।

वृ० वाग्भट्ट ने भी ऐसा ही लिखा है "गर्भ माताके हृदयप्रदेश को छोडकर उदर में नीचे (बस्ति में) आ जाता है । शिर बस्ति प्रदेश में फँस जाता है । आवी जल्दी जल्दी आने लगती हैं[3] ।

आव्यो[4] हि त्वरयन्त्येनां खट्वामारोपयेत्ततः ॥ ८० ॥
अथ सम्पीडिते गर्भे योनिमस्याः प्रसारयेत् ।
मृदुपूर्वं प्रवाहेत बाढमाप्रसवाच्च सा ॥ ८१ ॥
हर्षयेत्तां मुहुः पुत्रजन्मशब्दजलानिलैः ।
प्रत्यायान्ति तथा प्राणाः सूतिक्लेशावसादिताः ॥ ८२ ॥

जब आवियें शीघ्रता से आने लगें तो स्त्री को शय्या पर लिटा देवें । जब वायु के कारण गर्भ चारों तरफ से दब रहा हो, उस समय

१–स यदा जानीयाद् विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति, बस्तिशीर्षमवगृह्णाति, त्वरयन्त्येनामाव्यः परिवर्ततेऽस्या अवाक् गर्भ इति । (चरक)

२–यदा गर्भोदकं योनौ सशूलं सम्प्रवर्तते ।
कालेन चोदितो गर्भो विमुच्य हृदयोदरम् । १ ।
बस्तिशीर्षमधोभागमवगृह्णाति जन्मनि ।
इत्येतैः कारणैर्विद्याद् गर्भस्य परिवर्तनम् । (का. सं. जातीय सूत्रीय)

३–तस्य लक्षणम्—विमुच्य हृदयमुदरमाविशति, बस्तिशिरोऽवगृह्णाति, त्वरयन्त्येनामाव्यः । (वृ० वा० शा०)

४–आवी प्रसववेदना (डल्हण), आवीभिरेषा व्यग्रा भवतीत्यर्थः । (गंगाधर)

अभ्यङ्ग आदि से योनि को विस्तृत करे। जब तक गर्भ योनिमुख में न आवे, तब तक मृदु स्वरूप का प्रवाहण कर्म करे, इसके बाद प्रसव-पर्यन्त अत्यधिक वेग से करे। स्त्री को पुनः पुनः पुत्रजन्म के शब्द से, जल से तथा वायु से प्रसन्न रखना चाहिये। प्रसवकष्ट से परिश्रान्त प्राण इस तरह करने से पुनः नवीन हो जाते हैं।

वक्तव्य—यह प्रसव की द्वितीयावस्था में कर्तव्य है—गर्भ जन्म में आवी प्रधान कारण होती है[1]। इसलिये गर्भ का निष्कासन कार्य आवियों द्वारा ही होता है। जब प्रसववेदना तीव्रतर होने लगे तब भूशयन से उठा कर पलङ्ग पर सुलाना या बिठाना चाहिये। इस अवस्था में गर्भाशय मुख की पूर्ण विस्तृति हो जाने से गर्भजन्म होता है। मूल में खट्वा के ऊपर सुलाने का आदेश है, किन्तु चरक में पर्यङ्क लिखा है[2]।

सम्पीडिते गर्भे—इस द्वितीयावस्था में प्रसववेदना अत्यन्त पीडादायिनी होती है, इसी कारण वेदनाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ-साथ ही गर्भ गर्भाशय से नीचे योनि में तथा योनि से बाहर फेंका जाता है। यह क्रिया वायु द्वारा होती है। योनिमस्याः प्रसारयेत् अभ्यङ्गादिदानेन। इस समय योनि की मृदुता तथा पीडाओं की अल्पता के लिये योनि का अभ्यङ्ग करे। इस समय प्रसववेदना के साथ प्रवाहण करने की आवश्यकता होती है, तथा प्रवाहण से गर्भ शीघ्र ही नीचे की तरफ आ जाता है। मृदुपूर्वं प्रवाहेत—प्रवाहण से गर्भाशय को संकोच के समय चारों तरफ से आधार दिया जाता है, तथा गर्भाशय नीचे की तरफ दबाया जाता है। प्रवाहणकर्म में उदर प्राचीर की पेशियां प्रधानतया सहायता करती हैं। प्रवाहेत—निकुन्थनं कुरु। 'वाह प्रयत्ने' इत्यस्य धातोरात्मनेपदिनः प्रयोगः। (डल्हण)

१—आवीप्रादुर्भावो हि प्रसवारम्भलक्षणम्, (अभिनवप्रसूतितंत्रम्।)

२—अस्यामवस्थायां पर्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहितुमुपक्रामयेत्। (च. शा. ८)
पर्यङ्कः खट्वा—इति चक्रपाणिः।

यथा मलमूत्रोत्सर्ग के समय प्रकुन्थन से मलमूत्रोत्सर्ग कर्म में सहायता मिलती है, तदनुसार ही गर्भनिष्कासन के लिये समुत्पन्न प्रसववेदना के समय निकुन्थन या प्रवाहणक्रिया से गर्भ निष्कासन में सहायता होती है। किन्तु प्रवाहण ज्यों ज्यों प्रसव वेदनाएँ बढती जावें त्यों त्यों उत्तरोत्तर जोर से करे। क्योंकि प्रसववेदनाओं से गर्भाशयमुख विस्तृति तथा गर्भाशयसंकोच होता है। इन दोनों से ही गर्भ बाहर आता है। प्रवाहण इसमें सहायता देता है। इसलिये गर्भनिष्कासन में प्रसववेदना प्रधान है तथा प्रवाहण गौण है। इसलिये आवियों के वृद्धयनुसार ही प्रवाहण कर्म करना चाहिये[१]।

इसी आधार पर "शनैः शनैः पूर्वं प्रवाहेथाः, नचाप्राप्तावीः प्रवाहस्व, या ह्यनागतावीः प्रवाहते व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्म भवति" आदि आदेश सुश्रुत–चरक ने निर्दिष्ट किये हैं। परिचारिका एवं चिकित्सक के आदेशानुसार प्रथम शनैः शनैः प्रवाहण करना चाहिये, उसके बाद अधिक बल से। जब स्त्री प्रवाहण कर रही हो, उस समय उसके पास उपस्थित स्त्रियां उसको उत्साहित करती हुई इस तरह से कहें कि "प्रसव हो गया, प्रसव हो गया, धन्य हो, धन्य हो, पुत्र उत्पन्न हुआ है" ऐसे शब्दों के सुनने से गर्भिणी प्रसन्न होती है, प्रसन्नता से गर्भिणी के प्राण तृप्त हो जाते हैं। अर्थात् पुनः नवीन हो जाते हैं[२]।

चरक ने इस द्वितीयावस्था में वैदिककर्म भी बतलाये हैं, ये मंत्र गर्भिणी के कानों में पढने चाहिये—

१–सुभगे! प्रवाहस्वेति, नचाप्राप्तावी प्रवाहस्व, ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे सशूलेषु श्रोणिवंक्षणबस्तिशिरःसु च प्रवाहेथाः शनैः शनैः पूर्वं ततो निर्गमे प्रगाढम्। (सुश्रुत)

२–तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्य प्रवाहणं सा यथा निर्देशं कुरुष्वेति वक्तव्या। तथा च कुर्वती शनैः शनैः पूर्वं प्रवाहते, ततोऽनन्तरं बलवत्तरम्, तस्यां प्रवाहमाणायां स्त्रियः शब्दं कुर्युः "प्रजाता प्रजाता धन्यं धन्यं पुत्रम् इति" तथाऽस्याहर्षेणाप्यायन्ते प्राणाः। (च. शा. ८)

क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः ।
सभर्गां त्वां सदा पान्तु वैशल्यं च दिशन्तु ते ॥ १ ॥
प्रसुष्व त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्टा शुभानने ।
कार्तिकेय द्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम् ॥ २ ॥

(चरक, वृ० वा० ३ अ.)

इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि ।
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ।
इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघुगर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्री ।
तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम् ।

(वृ. वा. ३ अ.)

वृ० वा० में लिखा है कि—

जलं च्यवनमंत्रेण सप्तवाराभिमंत्रितम् । पीत्वा प्रसूयते नारी ।

च्यवनमंत्र से सात बार अभिमंत्रित करके जल पीने से स्त्री को आराम से प्रसव होता है ।

धूपयेद् गर्भसङ्गे[1] तु योनिं कृष्णाहिकञ्चुकैः ।
हिरण्यपुष्पीमूलञ्च पाणिपादेन धारयेत् ॥ ८३ ॥
सुवर्चलां विशल्यां वा जराय्वपतनेऽपि च ।
कार्यमेतत्तथोत्क्षिप्य बाह्वोरेनां विकम्पयेत् ॥ ८४ ॥
कटीमाकोटयेत् पाष्र्ण्या स्फिचौ गाढौ निपीडयेत् ।
तालुकण्ठं स्पृशेद् वेण्या मूर्ध्नि दद्यात् स्नुहीपयः ॥ ८५ ॥
भूर्जलाङ्गलिकीतुम्बीसर्पत्वक्कुष्ठसर्षपैः ।
पृथक् द्वाभ्यां समस्तैर्वा योनिलेपनधूपनम् ॥ ८६ ॥
कुष्ठतालीशकल्कं वा सुरामण्डेन पाययेत् ।
यूषेण वा कुलत्थानां वाल्वजेनासवेन वा ॥ ८७ ॥

गर्भ की रुकावट हो जाने पर योनि का धूपन करे। इसके

१–गर्भसङ्गे—सुवर्चलाया विशल्याया वा मणिवच्छरीरे धारणम् (इन्दु)

लिये काले सर्प की कंचुकी का धुआँ दे। सुवर्णपुष्पीमूल, सुवर्चला अथवा कलिहारी को हाथ-पैरों पर बांधे। यही चिकित्सा अपरा के पातन में भी करे। जब गर्भ का प्रसव हो जाय तब परिचारिका स्त्रियों में से कोई ध्यान से निश्चय करे कि अपरा बाहर आ गई है या नहीं। यदि अपरा बाहर नहीं आ गई हो तो उनमें से कोई भी स्त्री अपने दाहिने हाथ से प्रसूता की नाभि के ऊपर बल से दबाकर तथा बायें हाथ से पीठ पकड़ कर अच्छी तरह कंपा दे। उस प्रसूता स्त्री की कमर पर एक स्त्री अपने पैरों को एड़ी से दबावे या हलकी चोट लगावे। उसके नितम्बों को हाथों से बलपूर्वक दबावे। बालों के गुच्छे से कण्ठ और तालु का स्पर्श करे। अंगुली पर बाल लपेट कर भी यह कार्य किया जा सकता है। इन कार्यों के करने से गर्भाशय के आकुञ्चनों के होने में सहायता मिलती है। शिरपर थूहर का दूध लगावे। भूर्जपत्र, कलिहारी, कटुतुम्बी, सर्पकञ्चुकी, कुष्ठ, सर्षप इनसे अलग-अलग या दो-दो मिलाकर या समस्त से योनि में लेप करे या योनि में धूप दे। अथवा कुष्ठ और तालीश के कल्क को सुरामण्ड के साथ अथवा कुलत्थ-यूष से या वाल्वंज आसव के साथ पिलावे।

वक्तव्य—यह तृतीयावस्था की कर्तव्यावस्था है। गर्भसङ्ग—गर्भ का बाहर नहीं निकलना। प्रथमावस्था में प्रसव की वेदना प्रारम्भ होने पर द्वितीयावस्था में भी गर्भ का बाहर नहीं निकलना। सुश्रुत ने गर्भसङ्ग का एक भेद प्रतिलोम निर्दिष्ट किया है। गर्भ के प्रतिलोम या विषम स्थिति में आना। अकाल प्रवाहण तथा प्राप्तकाल में अप्रवाहण से भी गर्भसङ्ग हो जाता है। तीसरा-मल-मूत्र की पूर्ण शुद्धि न होने से भी यह सङ्ग होता है। यह चिकित्सा सभी अवस्थाओं में लाभप्रद है। सबाध प्रसवावस्था में आचार्य वाग्भट ने "गर्भसङ्ग" नामक अवस्था-विशेष का वर्णन किया है। यद्यपि इस शब्द का वास्तविक अर्थ "गर्भ का रुकावट होना" इतना ही पर्याप्त है। तथापि इसके भीतर

अनेक कारणों का समावेश हैं। जिसका वर्णन प्रायः हो चुका है। कृष्णाहिकञ्चुक - कृष्णसर्पनिर्मोक—इसका प्रयोग घृतयुक्त करना चाहिये। " भूर्जपत्रकाचमणिसर्पनिर्मोकैश्चास्या योनिं धूपयेत्", " सर्पनिर्मोकाणि घृतयुक्तानि" (च. शा. ८) " गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण वा " (सुश्रुत शा. १०), तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत्। हिरण्यपुष्पी—लांगली। " बध्नीयाद्धिरण्यमूलं हस्तपादयोः" (सुश्रुत शा. १०) " लाङ्गली कटुका चोष्णा कफवातापहा सरा। अपरापातनी चैव सद्यः-प्रसवकारिका।" (हाराणचन्द्र) हिरण्यपुष्पी कलिकारिकेति–डह्लनः। सुवर्चला–सूर्यभक्ता। अन्ये तु मारिषसदृशनालमार्तगलसदृशपत्रं लंफलकमाहुरिति–शिवदासः। सूर्यावर्तभेद इत्येके। ब्राह्मीति केचित्। सूर्यमुखीति–हाराणचन्द्रः। " गर्भसङ्गे तु धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा" इति शार्ङ्गधरः। विशल्या—विगतं शल्यं तत्प्रहारवेदना यस्याः। लांगली। इन्द्रपुष्पीति सुश्रुतपाठः। कण्टकीकृष्णपुष्पकरंज इति डह्लनः। लाङ्गलिकेति भाष्यकारः। सुवर्चलां विशल्यां वेतीत्यत्र पाटलेति डह्लनः। गुडूचीति हाराणचन्द्रः। उन्मादप्रतिषेधाध्याये " रास्नां विशल्यां लशुन"-मित्यत्र गुडूचीति डल्हणचन्द्रौ। लाङ्गलीत्यरुणदत्तः। गर्भपातनीतीन्दुः। विशल्या लाङ्गली दन्ती गुडूची त्रिपुटासु च। शल्येन रहितायां च प्रियायां लक्ष्मणस्य च॥ इति हेमचन्द्रः। जरायु-अपरा Foetal membrane, गर्भ का कोष जिसमें गर्भ गर्भाशय में रहता है। गर्भवेष्टनचर्मपुटकं जरायुः (उदयन), अपरा गर्भस्य नाभिनाडीप्रतिबद्धा " अमरा " इति लोके ख्याता। (चक्रपाणि) जरायु-उल्बाकारो येन वेष्टिताः प्राणिनो जायन्ते इति डह्लनः। " या तु चर्माकृतिः सूक्ष्मा जरायुः सा निगद्यते" इति तंत्रान्तरम्। तस्य स्थानम् "गुदमूत्राशयान्तःस्थो जरायुर्गर्भमन्दिरम्। जरायुपार्श्वे नाड्यौ द्वे डिंबनाड्यौ प्रकीर्तिते।" इति अत्रिसंहिता। स्नुहीपयः—स्नुह्यति क्षीरं स्नुक् स्नुही च। "स्नुही च स्नुहा स्नुग्भीस्नुहः" इत्यमरदत्तः। " द्विविधः स मतो यश्च बहुभिश्चैव कण्टकः। सुतीक्ष्णैः कटकैरल्पैः प्रवरो बहुकण्टकः। स नाम्ना स्नुग्गुडानन्दा सुधा निस्त्रिंशपत्रकः।"

(च. क. १०) भूर्ज—भृणातीति भूर्जः, भूरुर्जोऽस्य इति वा । हिमाल यादिपर्वतोपरिस्थः स्वनामख्यातवृक्षविशेषः । भोजपत्र । लाङ्गलिकी 'अग्निज्वाला लाङ्गलिकी' इति वाचस्पतिः । गर्भपातिनी—कलिहारी । "तीक्ष्णोष्णा कृमिहृल्लघ्वी पित्तला गर्भपातिनी (भा. प्र.) । सुधौतं लाङ्गलीमूलं वारिणा परिपेषितम् । नाभौ योनौ प्रलिप्तं वा सद्यः-प्रसवकृन्मतम् । लाङ्गलीवारिणा पिष्ट्वा करपादप्रलेपिता । अपरां पातयत्याशु न सन्देहोऽथ कश्चन । (वा. उ. ३०) । बाल्वजेनासवेन-बाल्वजं वारिणा आसुत्य रात्रौ धारितं तच्छीतकषायो बाल्वज आसव उच्यते (अ. द.)

शताह्वा सर्षपाजाजीशिग्रुतीक्ष्णकचित्रकैः ।
सहिंगुकुष्ठमदनैर्मूत्रे क्षीरे च सार्षपम् ॥ ८८ ॥
तैलं सिद्धं हितं पायौ योन्यां वाऽप्यनुवासनम् ।
शतपुष्पावचाकुष्ठकणासर्षपकल्कितः ॥ ८९ ॥
निरूहः पातयत्याशु सस्नेहलवणोऽपराम् ।
तत्सङ्गे ह्यनिलो हेतुः सा निर्यात्याशु तज्जयात् ॥ ९० ॥
कुशला पाणिनाक्तेन हरेत् कृत्तनखेन वा ।
मुक्तगर्भापरां योनिं तैलेनाङ्गञ्च मर्दयेत् ॥ ९१ ॥

सौंफ, सरसों, जीरा, पीपल, चित्रक, हींग, कुष्ठ, मदनफल इनके कल्क से गोमूत्र और दुग्ध में सिद्ध किये सर्षप के तैल की अनुवासनवस्ति गुदा और योनि में दे । शतपुष्पा, वचा, कुष्ठ, पीपल तथा सरसों का कल्क स्नेह और लवण के साथ दिया हुआ निरूह अपरा को शीघ्र बाहर निकाल देता है । अपरा के रोकने में वायु कारण है । वायु का प्रशमन होने से अपरा शीघ्र निकल जाती है । कुशल स्त्री घृत-तैल आदि से हाथ को सचिक्कण करके नखों को कटवाकर अपरा को बाहर निकाल दे । गर्भ और अपरा के निकल जाने पर शरीर और योनि में तैल का अभ्यङ्ग करे ।

वक्तव्य—बालक उत्पन्न होने के बाद अपरा का निष्कासन करना प्रसव की तृतीयावस्था होती है। उसके निकालने के लिये ऊपर उपाय बताये गए हैं। प्रसव के तृतीयावस्था की यहीं प्रधान घटना होती है। चरकसुश्रुतादि सभी आचार्यों का यह मत है कि अपरा के न निकलने से आनाह और आध्मान हो जाते हैं[1]। अतः अपरा-पातन के लिये निर्दिष्ट उपायों को करना चाहिये। यद्यपि स्वभावानुसार अपरा का पातन भी स्वभाव के ऊपर ही छोडा गया है। तथापि उससे काम नहीं चले तो स्वभाव को सहायता करने वाले बाह्यचिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये। इन उपायों से लाभ नहीं होने पर ही आखिरी में हाथों से निकालना चाहिये। चरकसंहिता में बाहर का उपाय ही अधिक लिखा है। हस्तापहरण की विधि नहीं लिखी है। हस्तापहरण की विधि बहुत शुद्धता के साथ करनी चाहिये। अत्यन्त आवश्यकता होने पर ही आधुनिक काल में करते हैं तथा इन्हीं स्थितियों में करना

१—अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितया अंगुल्या प्रमृजेत्, कटुकालाबुकृतबेधनसर्षपसर्पनिर्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रैर्योनिमुखं धूपयेत् लाङ्गलीमूलकल्केन वास्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्...स्निग्धेन वा लूनतनखेन हस्तेनापहरेत्—इति (सु० शा० १०)

तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यात्, अथैनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्टाद् बलवान्निष्पीड्य सव्येन पृष्ठत उपसंगृह्य सुनिर्धूतं निधूनुयात्....इत्यादि। (च० शा० ८)।

अथापतन्तीमपरां पातयेत् पूर्ववद्भिषक्।
हस्तेनापहरेद् वापि पार्श्वाभ्यां परिपीड्य वा॥ १॥
धुनुयाच्च मृदुर्नारीं पीडयेद्वांसपिण्डिकाम्।
तैलाक्तयोनेरेवं तां पातयेन्मतिमान् भिषक्॥ २॥

(सु. चि. १५ अ.)

सूतायाश्चापि तत्र स्यादपरा चेन्न निर्गता। प्रसूताऽपि न सूता स्त्री भवत्येवं गते सति। प्रजातमात्रामाश्वास्य सूतां शक्ता विजा (प्रसा) विका। न्युब्जां शयानां संवाह्य पृष्ठे संश्लिष्य कुक्षिणा। पीडयेद्घट्टमुदरं गर्भदोषप्रवृत्तये। महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत्। तेनोदरं स्वसंस्थानं याति वायुश्च शाम्यति। (सूतिकोपक्रमणीये काश्यपः)

भी चाहिये, क्योंकि थोड़ी-सी भी अशुद्धि हो जाने से संक्रामक रोगों का तथा जरायु के भाग भीतर रहने का एवं रक्तस्रावादि उपद्रवों का भी भय रहता है। इसलिये यहां पर भी यह क्रिया अन्त में निर्दिष्ट की है।

मक्कल्लाख्ये शिरोबस्तिं कोष्ठशूले तु पाययेत् ॥
सुचूर्णितं यवक्षारं घृतेनोष्णजलेन वा ॥ ९२ ॥
धान्याम्बु वा गुडव्योषत्रिजातकरजोऽन्वितम् ।

शिर, बस्ति, कोष्ठ में शूल उत्पन्न करने वाले मक्कल नामक रोग में घृत के साथ अथवा गरम जल के साथ यवक्षार का सूक्ष्म चूर्ण दें।

वक्तव्य—गर्भाशय से मूढगर्भ निकालने के लिये किये हुये प्रबल आकुञ्चन कर्म से उत्थित भयङ्कर शूल को मक्कल कहते हैं।

यह रोग प्रजाता स्त्रियों को होता है, उस समय गर्भ के बहिर्निष्कासन के लिये अत्यन्त पीड़ा होती है, इसलिये कभी प्रक्षोभ के कारण, कभी अपरा (जरायु) शेष रह जाने से, कभी भीतर रक्त जम जाने से, कभी कोई निश्चित कारण न मालूम होने पर भी प्रसवोत्तर काल में गर्भाशय में सङ्कोच होते हैं, उनसे मक्कल शूल उत्पन्न होता है।

सुश्रुत में लिखा है प्रजाता स्त्रियों में यदि उनका शरीर रूक्ष हो, तथा तीक्ष्ण औषधियों के द्वारा उनके रक्त का विशोधन न किया गया हो तो वायु के द्वारा अवरुद्ध हुआ रक्त नाभि के नीचे पार्श्व, बस्ति और बस्ति-शीर्ष के ऊपर एक ग्रन्थिवत् उभार पैदा करता है। इसमें नाभि बस्ति और उदर में शूल होने लगता है। प्रारम्भ में यह पीड़ा सूई चुभने जैसी होती है, अनन्तर बढ़कर भेदन और दारण (चीर रहा हो या फाड़ रहा हो) के समान वेदना होने लगती है। सम्पूर्ण उदर आध्मान युक्त हो जाता है। मूत्रस्राव भी बन्द हो जाता है। इस शूल को "मक्कल" शूल कहते हैं।

संग्रह में "मक्कल्ल" का उल्लेख "मर्कल" नाम से किया है[१]। चरक संहिता में इसका वर्णन नहीं है। इस श्लोक में यह विशेषता है कि इसमें प्रधान तीन लक्षणों के साथ संक्षिप्त में इसका लक्षण तथा चिकित्सा बता दी गयी है। माधव निदान में इसी रूप से इसके लक्षण लिखे हैं[२]। प्रसूतावस्था में स्त्री को वेदना देनेवाले दो रोगों का वर्णन है—१ आवी और २ मक्कल्ल। सिद्धान्ततः कार्य की दृष्टि से आवी और मक्कल्ल में कोई भेद नहीं है। आवी गर्भजन्म के पूर्व होती है तथा गर्भ को बाहर निकालना उसका प्रधान कार्य है। मक्कल्ल गर्भजन्मोत्तर में होता है तथा गर्भ दोषों को निकालने के लिये। उस समय रक्त गर्भाशय के भीतर जमने लगता है तथा उसकी ग्रन्थियाँ बनने लगती हैं, इनको निकालने के लिये उस समय उत्पन्न गर्भाशयसंकोचकर्म से यह शूल (प्रसवोत्तर वेदना) उत्पन्न होती है। इसलिये काल और कारण को ध्यान में रखकर यह निश्चय कर सकते हैं कि 'आवी' प्रसव पूर्व गर्भनिःसारण वेदना तथा मक्कल्ल प्रसवोत्तरकालीन गर्भ-दोष-निःसारक वेदना होती है। गर्भाशय से गर्भ निकल जाने के बाद उदर में शून्यता तथा रिक्तता हो जाने से एवं योनिद्वार के समीपस्थ भाग में प्रसवकालीन आघातादि के कारण मलद्वार एवं मूत्रद्वार के सुषिरस्नायु Sphincters

---

१–प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं वायुना तद्देशगतेनातिसंरुद्धं नाभेरधः पार्श्वयोः, बस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं करोति, ततश्च नाभिबस्त्युदरशूलानि भवन्ति, सूचिभिरिव निस्तुद्यते भिद्यते दीर्यत इव च पक्वाशयः। समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कल्ललक्षणम्। (सु. शा. १०)
प्रजातायाः प्रजननशोणितसंजननशूलं मक्कल्लः (डल्हन)

प्रजाताया वायुरसृगारुध्य बस्तिशिरःप्रभृतिषु शूलं करोति स मक्कल्लः
(न्यायचन्द्रिका)

१–प्रजातायां चेद्बस्तिमूर्धोदरेषु शूलं मर्कलाख्यं स्यात्तत्र यवक्षारचूर्णं सर्पिषा सुखोष्णोदकेन वा (अ. सं.)।

२–वायुः प्रकुपितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं स्रुतम्।
सूतिकाया हृच्छिरोबस्तिशूलं मक्कल्लसंज्ञकम्। (मा. नि.)

संकुचित हो जाते हैं। इसलिये मल और मूत्र का अवरोध होता है तथा आध्मान और आनाह हो जाते हैं। (का. सं.[1])

ऊपर निर्दिष्ट सुश्रुत के वचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मूढगर्भ के निकालने के लिये गर्भाशय के प्रबल आकुञ्चनों से उत्पन्न हुआ दारुण शूल Tonic or tetanic contraction of the utrous अथवा पश्चात् कालीन शूल After pain को मक्कल्ल कहते हैं। डह्लन[2] ने मक्कल्ल के विषय में लिखा है कि "यह अप्रजाताओं[3] में भी मिल सकता है, अतः मक्कल्ल जो प्रजाताओं में ही मिलता है, उसके लिये एक दूसरा पर्याय "गर्भकोष परासङ्ग" Uterine inertia नाम दिया है, अन्यथा दोनों एक ही है। इसमें गर्भकोष गर्भाशय का अत्यन्त निरोध हो जाता है तथा माता की मृत्यु भी हो जाती है। यह अवस्था Retraction ring या Uterine inertia में होती है।

चक्रपाणि ने भी डह्लणानुसार ही लिखा है। शार्ङ्गधर में आठ गर्भज रोगों में मक्कल्ल भी है—वहां दीपिका[4] में लिखा है कि "मक्कल्ल

१–आनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि। (का. सं.)

२–गर्भकोषपरासंज्ञो मक्कल्लो योनिसंवृतिः। हन्यात् स्त्रियं मूढगर्भे—तथा प्रजातायाश्चेति-चकारान्न केवलं प्रजातायाः, अप्रजाताया अपि मक्कल्लो भवति, गर्भाशयाच्च्युतगर्भाया योनिद्वारासक्तगर्भायाश्च रक्तं स्रुतमन्तः-स्थितं पच्यमानं मक्कल्लसंज्ञं भवतीति ज्ञेयम्। (डह्लण सु. नि.)

३–प्रजातायाश्चेति चकारेण अप्रजाताया अपि गर्भाशयाच्च्युतं शोणितं मक्कल्लं करोतीति मक्कल्लोपद्रवपाठादेव ज्ञेयम् (भानुमती सु. नि.)

४–मक्कल्लो मारुतजशूलविशेषः। स द्विविधो भवति। एको गर्भावस्थायां अपरः सूतिकावस्थायाम्। इति। तद्यथाध्मानसागन्तुभिस्तापैः प्रपीडितो यो गर्भः कुक्षौ वेदनां जनयति स गर्भमक्कल्लः। यत्र प्रकुपितो वायुः सूतायाः अत्यन्तं रुधिरं संरुध्य हृच्छिरोबस्तिशूलं करोति स प्रसूतिमक्कल्ल इति। मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम्। कुरुते रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः। निरुणद्ध्याशयद्वारं गर्भसंस्थितिम्। निरुद्धवदनोच्छ्वासो गर्भश्चाशु विपद्यते। विपन्नः शूनसर्वाङ्गसर्वाण्येवापराण्यपि। बध्वा संरुद्धहृदयां नाशयत्यपि गर्भिणीम्। योनिसंवरणं त्वेनं व्याधिं विद्यात् सुदारुणम्। अन्तकप्रतिमं घोरं नारभेत चिकित्सितुम्। (भानुमत्यां दीपिकायाञ्च तंत्रान्तरवचनानि)

वातज शूलविशेष है" यह दो तरह का होता है–१ गर्भावस्था में और २ सूतिकावस्था में। चक्रपाणि तथा दीपिकाकार ने तंत्रान्तर में इसको "योनिसंवरण" नाम दिया है।

सुश्रुत ने असाध्य मूढगर्भ की विकृति के लक्षणों में ही योनिसंवृत्ति (योनिसंवरण) लिखा है। अर्थात् गर्भाशय का अधिक काल तक संकोचस्थिति में अवस्थान Sicnosis and atresia of the cervix of Vagina मक्कल की एक मक्कल विद्रधि भी होती है, इसका वर्णन सुश्रुत तथा सूतिका काल में होने वाले चौसठ रोगों में (सूतिकोपक्रमणीयाध्याय में) मक्कल विद्रधि "putrid endometritis" का निर्देश हुआ है।[१]

अथ बालोपचारेण बालं योषिदुपाचरेत् ॥ ९३ ॥
सूतिका क्षुद्वती तैलाद् घृताद् वा महतीं पिबेत्।
पञ्चकोलकिनीं मात्रामनु चोष्णं गुड़ोदकम् ॥ ९४ ॥
वातघ्नौषधतोयं वा, तथा वायुर्न कुप्यति।
विशुद्ध्यति च दुष्टास्रं द्वित्रिरात्रमयं क्रमः ॥ ९५ ॥
स्नेहयोग्या तु निःस्नेहममुमेवविधिं भजेत्।
पीतवत्याश्च जठरं यमकाक्तं विवेष्टयेत् ॥ ९६ ॥

इसके बाद प्रसूता स्त्री० बालोपचरणीय अध्याय में वर्णित विधि के अनुसार बालक की परिचर्या करे। प्रसूता स्त्री क्षुधा लगने पर सूक्ष्म पञ्चकोलचूर्ण युक्त घृत या तैल बड़ी मात्रा में पीयें। ऊपर से गुड़ का गरम जल पीयें। अथवा वातघ्न औषधियों का क्वाथ पीयें। ऐसा करने से वायु कुपित नहीं होता है, दूषित रक्त भी शुद्ध हो जाता है। यह विधि

१–स्त्रीणामप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः।
दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः।
अपि सम्यक् प्रजातानामसृक् कायादनिःसृतम्।
रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कलसंज्ञितम्।
सप्ताहान्नोपशान्तश्चेत्ततोऽसौ संप्रमुह्यते। (सु. नि. अ. ९ श्लो० २६.)

दो–तीन दिन तक करे। जिस प्रसूता को स्नेह अनुकूल नहीं हो उसे स्नेह रहित इसी विधि को करना चाहिए। पीने के बाद इसके जठर को घृत या तैल से अभ्यङ्ग करे तथा वस्त्र से लपेट दे।

वक्तव्य—इन श्लोकों में सूतिकोपक्रम कर्म के लिये विशेषतः, स्नेहादिपान तथा उदरवेष्टन के लिये निर्देश किया है। अर्थात् सूतिका को बलातैल से अभ्यङ्ग कराकर पञ्चकोलचूर्ण युक्त स्नेहपान करावे। अनुपान में उष्णगुड़ोदक का उपयोग करे तथा वातघ्नौषध (यवानी उपकुञ्चिका चित्रकादि)—क्वाथ स्नेहद्वेषिणी स्त्रियों को पिलावे। पीने पर वस्त्र का उदर पर परिवेष्टन करे। महर्षि चरक ने "सूतिकां तु खलु बुभुक्षितां विदित्वा स्नेहं पाययेत् परमया शक्त्या सर्पिस्तैलं वसां मज्जानं वा सात्म्यीभावमभिसमीक्ष्य पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृंगवेरचूर्ण-सहितम्। स्नेहपीतवत्याश्च सर्पिस्तैलाभ्यामभ्यज्य वेष्टयेदुदरं महता वाससा तथा तस्या न वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयत्यनवकाशत्वात्।" (च. शा. ८)।

काश्यप संहिता में भी—

प्रजातमात्रामाश्वास्य सूतां शक्ता विजातिका।
न्युब्जां शयानां संवाह्य पृष्ठे संलिप्य कुक्षिणा।
पीडयेद् घट्टमुदरं गर्भदोषप्रवृत्तये।
महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत्।
तेनोदरं स्वसंस्थानं याति वायुश्च शाम्यति।

दुष्टास्र—एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा . कुर्यादादुष्टशोणितात् (सुश्रुत) इसकी अवधि तीन दिन की होती है। तैलाद् घृताद्वा —सुश्रुत ने भी "घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत्" लिखा है, किन्तु काश्यप ने "कुमारप्रसवे तैलं कुमारीप्रसवे घृतम्" से पुत्र प्रजाता के लिये तैल तथा कन्या प्रजाता के लिये घृत निर्दिष्ट किया है। इस संहिता में प्रसूता की परिचर्या तथा स्वस्थवृत्त एवं अपरा

निकल जाने के बाद प्रसूता की परिचर्या का विस्तृत वर्णन किया गया है—

ततोऽग्निबलवद् वीक्ष्य त्र्यहं पञ्चाहमेव वा।
मण्डानुपानमन्वक्षं पिबेत् स्नेहं हिताशिनी।
स्नेहव्युपरमेऽश्नीयाद् अल्पस्नेहामसैन्धवाम्।
यवागूं त्र्यहमेवात्र पिप्पलीनागराश्रिताम्।
स्याद् व्यपेतौषधा पश्चात् सस्नेहलवणोत्तरा।
कुलत्थयूषः सस्नेहलवणाम्लस्ततः परम्।
तथैव जाङ्गलरसः शाकानीमानि चाप्यतः।
घृतभृष्टानि कूष्माण्डमूलकैर्वासकानि च।
उष्णोदकोपचारश्च स्वस्थवृत्तमतः परम्। (का. सं.)

वेष्टयेत्—स्नेहपीतासूतिका के उदर पर घृत या तैल लगाकर एक चौडा कपडा बांधने से अवकाश के न रहने के कारण वायु विकार को उत्पन्न नहीं करता है। इस बन्धन से परिश्रान्त बस्तिगह्वरसन्धियों एव मांसपेशियों को पूर्ण सहायता मिलती है। यह बन्धन कौडी प्रदेश से ऊरू मध्य तक लगानी चाहिये, क्योंकि गर्भाशय से गर्भ बाहर आने के बाद उदरगुहा में शून्यता-रिक्तता आदि उत्पन्न होने से तथा उदर-प्राचीर की पेशियाँ गर्भवृद्धि के तनाव के कारण दुर्बल एवं शिथिल हो जाती हैं, इसलिये यह बन्धन आवश्यक है। अष्टांग संग्रह तथा चरक में यवागू पान करने से पूर्व दिन में दो बार उष्ण जल से परिषिञ्चन करने की आज्ञा है। "उभयतः कालं चोष्णोदकेन च परिषेचयेत् प्राक् स्नेहयवागूभ्याम्" इति। काश्यप संहिता में 'त्रिविध देशों में स्त्री की परिचर्या' इस तरह संक्षिप्त सूत्रों में लिखी है—

त्रिविधं देशमाश्रित्य वक्ष्यामि त्रिविधं विधिम्।
आनूपदेशे भूयिष्ठं वातश्लेष्मात्मका गदाः।
तत्राभिष्यन्दभूयस्त्वादादौ स्नेहो विगर्हितः।
मण्डादिरत्र कर्तव्यः संसर्गोऽग्निबलावहः।

स्वेदो निवातशयनं सर्वमुष्णं च शस्यते ।
नियतं जाङ्गले देशे वातपित्तात्मका गदाः ।
तदत्र स्नेहसात्म्यत्वात् स्नेहादिः स्यादुपक्रमः ।
कार्यः प्रजातमात्राया विशेषश्चात्र बुध्यते ।
कुमारप्रसवे तैलं कुमारीप्रसवे घृतम् ।
पिबेद् जीर्णे यवागूञ्च दीपनीयोपसंस्कृताम् ।
पञ्चाहं सप्तरात्रं वा ततो मण्डाद्युपक्रमः ।
देशे साधारणे चास्या हितः साधारणो विधिः ।

(सूतिकोपक्रमणीयाध्याय)

जीर्णे स्नाता पिबेत् पेयां पूर्वोक्तौषधसाधिताम् ।
त्र्यहादूर्ध्वं विदार्यादिवर्गक्वाथेन साधिता ॥ ९७ ॥
हिता यवागूः स्नेहाढ्या सात्म्यतः पयसाऽथवा ।
सप्तरात्रञ्च परं चास्यै क्रमशो बृंहणं हितम् ॥ ९८ ॥
द्वादशाहेऽनतिक्रान्ते पिशितं नोपयोजयेत् ।

स्नेह की मात्रा जीर्ण होने पर स्नान करे। पूर्वोक्त औषधियों से साधित पेया का सेवन करे। तीन दिन के बाद विदार्यादिगण के क्वाथ से सिद्ध अधिक स्नेह युक्त यवागू हितप्रद है। अथवा सात्म्य होने पर दूध से सिद्ध की हुई यवागू दें। सात दिन के बाद इस स्त्री का क्रमशः बृंहण उपचार करे।

वक्तव्य—पूर्वोक्तौषध—कदुष्णगुड़ोदक अथवा वातहर द्रव्यों का क्वाथ। या पञ्चकोल साधित विदार्यादिवर्ग—"विदारि पञ्चांगुल-वृश्चिकाली वृश्चीव देवाह्वयशूर्पपर्ण्यः। कण्डूकरी जीवनह्रस्वसंज्ञे, द्वे पञ्चके गोमसुता त्रिपादी। विदार्यादिरयं हृद्यो बृंहणो वातपित्तहा।" (अ. हृ. सू. १५) बृंहण—जीवनीय बृंहणीय मधुरवर्गों से सिद्ध अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, परिषेक, अवगाहन तथा हृद्य अन्नपानों का प्रयोग करना चाहिये। "जीवनीय-बृंहणीय-मधुर-वातहर सिद्धैरन्नपानैश्च

हृद्यैरुपाचरेत् । एवं पुनर्नवीभवति"। (अ. सं. शा. ३)। सात्म्यतः इसका प्रयोग देश तथा कुलसात्म्य का विचार करके करना चाहिये—जैसे—

वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः।
रक्तं मांसस्य निर्यूहं कन्दमूलफलानि च।
कुलसात्म्यं च बुध्येत यस्मिन् यस्मिन् यथा यथा।
औचित्यात् कुलसात्म्यस्य तत्तथैवानुवर्तते।
अतो नैकान्तिकत्वाच्च सूतिकोपक्रमस्य च।
देशं च जातिसात्म्यञ्च संप्रधार्य प्रयोजयेत्। (काश्यपसंहिता)।

द्वादशाहे—द्वादशरात्रात्परं जाङ्गलरसादिभिश्च क्रमादाप्याययेदग्निबलादीन्यपेक्ष्य। क्वथितं शीतं च तोयं पाययेत् (अ. सं.)।

प्रसूति–शुश्रूषा

यत्नेनोपचरेत् सूतां, दुःसाध्यो हि तदामयः ॥ ९९ ॥
गर्भवृद्धिप्रसवरुक्-क्लेदास्रस्रुतिपीडनैः।

प्रसूता स्त्री की चिकित्सा प्रयत्नपूर्वक करे, क्योंकि उसके रोग दुःसाध्य होते हैं। गर्भ की वृद्धि, प्रसव की वेदना, क्लेद, रक्तस्रुति तथा पीड़न (दबाव) आदि के कारण इनके रोग दुःसाध्य होते हैं।

वक्तव्य—पूर्वोक्त उपचारों के करने के अनन्तर प्रसव कर्म से दुःखित स्त्री पुनः नवीभूत हो जाती है। पूर्वनिर्दिष्ट सूतिकोपक्रम तथा दुःसाध्य के कारणों का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करने से स्पष्ट विदित होता है कि सूतिका के रोगों का कारण ये दो ही हैं। १–मिथ्यापचार और २–अत्यपतर्पण। गर्भावस्था में गर्भवृद्धि के निमित्त सगर्भा के शरीर के अधिक धातु क्षीण हो जाते हैं, इससें उनका शरीर शिथिल हो जाता है, एवं इसके अतिरिक्त प्रसवावस्था में प्रवाहण आदि कारणों से प्रजायिनी स्त्री का शरीर रिक्त हो जाता है"... तस्यास्तु खलु यो व्याधिरुत्पद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च" इति।

तथा—

मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते ।
सकृच्छसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात् ।
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा ।
परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात् ॥ (सु. शा. १०)

आयुर्वेद में चिकित्साक्रम सन्तर्पण एवं अपतर्पण भेद से दो प्रकार का माना गया है। जिस का वर्णन इसी ग्रन्थ के सूत्रस्थान अ. १४ में "एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः" बृंहयेद्व्याधिभैषज्य-मद्यस्त्रीशोककर्शितान्। गर्भिणी सूतिका बाला वृद्धान् ग्रीष्मे परानपि" आदि है। इस अवस्था में बृंहण की आवश्यकता है। इसीलिये प्रसूता स्त्री क्षीण मांस युक्त होने से उस के सभी रोगों में सन्तर्पण—चिकित्सा परम उपयुक्त होती है। आचार्य नें अतिसंक्षेप में गर्भाशय की स्थिति, देश-काल आदि को ध्यान में रखकर आहार, विहार, मल-मूत्र विसर्जन, मानसिक स्वास्थ्य, मैथुन, अपत्यपथदौर्बल्य, गर्भाधानजन्य विकृतियाँ, अभ्यङ्ग, स्नान, अवगाहन, आवश्यक परिचर्या, आगन्तुक जीवाणुजन्य विकृतियों के परिहारों का वर्णन कर दिया है।

प्रसूता हितमाहारं विहारञ्च समाचरेत्।
व्यायामं मैथुनं क्रोधं शीतसेवां विवर्जयेत् ।
सर्वतः परिशुद्धा स्यात् स्निग्धपथ्याल्पभोजना ।
स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेन्मासमतन्द्रिता ।
व्युपद्रवां विशुद्धां च विज्ञाय बलवर्णिनीम् ।
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं परिहारयेत् ।

(भावप्रकाश)

यही वर्णन सुश्रुत की मूढगर्भचिकित्सा में भी हुआ है। इन दोनों में १ स्थानिक विकृतियाँ, २ समीपवर्ती विकृतियाँ, और ३ सार्व-

दैहिक दूरवर्ती विकृतियाँ आदि से सम्बन्ध रखने वाले रोगों में काश्यप-संहितोक्त—चतुःषष्टिरोगों का समावेश हो जाता है।

योनिर्भ्रष्टाक्षता चैव विभिन्ना मूत्रसङ्गिनी।
सशोफस्राविणी चैव प्रसुप्ता वेदनावती।
पार्श्वपृष्ठकटीशूलं हृदिशूलं विसूचिका।
प्लीहा महोदरत्वं च शाखावातोऽङ्गमर्दकः।
भ्रूक्षेपको हनुस्तम्भो मन्यास्तम्भोऽपतानकः।
मकल्लो विद्रधिः शोफः प्रलापोन्मादकामलाः।
दौर्बल्यं भ्रमली कार्श्यं भक्तद्वेषोऽविपाचकः।
ज्वरातिसारौ वैसर्पश्छर्दिस्तृष्णा प्रवाहिका।
हिक्काश्वासश्च कासश्च पाण्डुर्गुल्मश्च रक्तजः।
आनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि।
मुखरोगोऽक्षिरोगश्च प्रतिश्यायगलग्रहौ।
राजयक्ष्मार्दितं कम्पः कर्णस्रावः प्रजागरः।
उष्णवातो ग्रहाबाधः स्तनरोगोऽथ रोहिणी।
वाताष्ठीलावातगुल्मरक्तपित्तविचर्चिकाः।
इत्येते सूतिका रोगाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः।

(सूतिकोपक्रमणीयाध्याय)

इस सूची से स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य ग्रन्थों में निर्दिष्ट प्रायः उन समस्त रोगों का भी समावेश हो जाता है जो सूतिकोपसर्ग के लक्षण, स्वरूप एवं उपद्रवरूपों में देखने में आते हैं। इनके साथ ही सूतिकोपसर्ग के अतिरिक्त सूतिकाकाल में होनेवाले रोगों का भी वर्णन आ जाता है। यह अवश्य है कि—इनका वर्णन अतिसूक्ष्म है परन्तु वर्णन आवश्यक एवं परम उपादेय है।

एवं च मासादध्यर्धान् मुक्ताहारादियंत्रणा।
गतसूताभिधाना स्यात्पुनरार्तवदर्शनात् ॥ १०० ॥

इस तरह अध्यर्धमास (डेढ मास) तक प्रसूता के नियमों का पालन करते हुए क्रमशः आहार–विहारादि के नियमों को शिथिल करते हुए सूतिका नाम से होती है। अन्य आचार्यों की मान्यता है कि जब तक पुनः आर्तव दर्शन न हो तब तक स्त्री को सूतिका के नियमों का ध्यान रखना चाहिये।

वक्तव्य—प्रायः तृतीय, चतुर्थ मास के भीतर ही रजोदर्शन हो जाता है। ऐसी स्त्रियाँ जो कुमारों को स्तनपान नहीं कराती हैं, उन्हें पैंतालीस दिन में ही रजःस्राव होने लगता है। इस प्रकार पुनः आर्तव दर्शन पर्यंत सूतिकाकाल की मर्यादा का ज्ञान करना चाहिए। 'अध्यर्ध-मासम्—त्रीणि पक्षाणि" यह प्रसूता अवस्था की अवधि का निर्देश है।

"व्युपद्रवां विशुद्धां च विज्ञाय वरवर्णिनीम्। ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं परिहारयेत्" आदि वचनों के आधार पर प्राचीन प्रथा के अनुसार सूतिका की अवधि तीन मास की मानी जाती है। चतुर्थ मास से गत सूतिकाभिधाना तथा मुक्ताहारादि यंत्रणा हो जाती है। "अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके" (सुश्रुत)। अर्थात् सूतिकावस्था कम-से-कम डेढ मास की तथा अधिक-से-अधिक तीन मास की अवधि मानना उचित है।

इति श्री वैद्यपतिसिंह गुप्त सूनू श्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसहितायां द्वितीये शारीरस्थाने गर्भावक्रान्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः।

श्रीमङ्गलमूर्तये नमः।

द्वितीयोऽध्यायः।

अथातो गर्भव्यापदं शारीरं व्याख्यास्यामः।

इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः। (गद्यसूत्रे। २॥)

गर्भावक्रान्ति शारीर के अनन्तर गर्भव्यापद् नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसा आत्रेय आदि महर्षियोंने किया था।

वक्तव्य—गर्भव्यापत्—गर्भदुष्टि। यद्यपि इस अध्याय में गर्भ-दुष्टियों की चिकित्सा विधिका भी वर्णन हुआ है, न कि केवल व्यापद् का ही, तथापि बाहुल्यसे यह कह दिया है, ऐसा जानना चाहिये। गर्भ-व्यापत्-शब्द चरकसिद्धिस्थानमें "गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाच्च दारुणा रोगप्राप्तिः" रूप में आया है।

गर्भिण्याः परिहार्याणां सेवया रोगतोऽथ वा।
पुष्पे दृष्टेऽथवा शूले बाह्यान्तःस्निग्धशीतलम्॥ १॥
सेव्याऽम्भोजहिमक्षीरिवल्ककल्काज्यलेपितान्।
धारयेद् योनिबस्तिभ्यामार्द्रार्द्रान् पिचुनक्तकान्॥ २॥

गर्भिणी के लिये निर्दिष्ट परिहार्य (आहार-विहार-अतिव्यवायादि) के सेवन करनेसे, अथवा रोग के कारण योनि से रक्त दीखनेपर अथवा शूल का अनुभव होनेपर बाह्य एवं अन्तःरूप में स्निग्ध तथा शीतल उपचार करे। एतदर्थ सेव्य, अम्भोज, हिम, क्षीरिवृक्ष इनके कल्क को घृत में मिलाकर योनि में धारण करे, अथवा आर्द्र वस्त्रोंके टुकड़ों को योनि में धारण करे।

वक्तव्य—परिहार्य—परिहरणं परिहारः, त्यागः। परिहर्तुं योग्यः परिहार्यः। (च. सू. १३–४०) प्रथमाध्यायनिर्दिष्ट "अतिव्यवाय-मायासम् ४४–४६। श्लोकनिर्दिष्ट। पुष्प—आर्तवदर्शन। (च. शा. ८–५ में चक्रपाणी) इस श्लोक से गर्भिणी के गर्भव्यापदों का प्रकारक्रम से उत्पत्ति का वर्णन किया है। परिहार्य द्रव्योंका सेवन अथवा रोगतः—

"रोगस्य च स्वभावापथ्यसर्षपशाकमन्दकृद्ध्यादेराहारान्मात्रादेशकालादिवशाद् वा सम्भवः" (अ. द.) दृष्ट—प्राप्त। दृशिशब्द यहां पर उपलब्धिवचन है। अर्थात् पुष्पके प्रत्यक्ष देखने पर तथा प्रश्नादिद्वारा शूलका ज्ञान होने पर। बाह्य—स्नानावगाहादिद्वारा। अन्तः स्निग्ध शीतलभोजनादिद्वारा। सेव्यं—सेवितुं योग्यम्। उशीरम्। "सेव्यं क्लीबमुशीरे स्यात् सेवार्हे पुनरन्यवत्" इति मेदिनी। अम्भोज—कमल। अम्भसि जायते-इति-अम्भोजम्। हिम-चन्दन। "चन्दने तुहिने हिमम्" केशवस्वामी। क्षीरिणः—क्षीरिणो वृक्षाः ये वृक्षाः शस्त्रादिक्षताः क्षीरं स्रवन्ति। अर्थात् जिनवृक्षों की त्वचापर घाव करने से दूध के समान श्वेत गाढा रस निकलता है, वे क्षीरप्रधानवृक्ष। वट अश्वत्थोदुम्बरादि। "न्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षवटपिप्पलसंज्ञिताः। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षाः समाख्याता विचक्षणैः"। क्षीरिवृक्षा हिमा वर्ण्या योनिरोगव्रणापहाः। (भा. प्र.) "क्षीरिवृक्षोत्पलादीनां कषायाः स्नेहवाः स्मृताः। शीताः संग्राहिणः शस्ता रक्तपित्तातिसारिणाम्"। (सु. सू. ४९–२५३) वल्क—वल्कल। आज्य—घृत। कल्क—'यः पिण्डो रसपिष्टानां कल्कः स परिकीर्तितः' (च. सू. ४) पिचुः—विकेशिकासदृशः कार्पासमयः। (अ. द.) कार्पासखण्डः औषधीप्लावितः (च. चि. ३०–६१) तूलम् (ड.) तूलः (चक्रः) कार्पासतूलम् (हारा) नक्तक-चैलखण्ड।

मेरा मत—यहां हिमशब्द से "हिमवच्छिखरादिभ्यो द्रवीभूयाभिवर्षति। यत्तदेव हिमं हैमं जलमाहुर्मनीषिणः"। (वै. श.) तदेव (अवश्यायजं निशाजलमेव) संहतावयवत्वेन स्फटिकशिलाशकलसदृशावयवं हिमं (डल्हन) बर्फ "आइस" लेकर इसका भी बाह्य एवं अन्तःप्रयोग कर सकते हैं, मेरे अनुभव में अत्यन्तलाभ होता है।

शतधौतघृताक्तां स्त्रीं तदम्भस्यवगाहयेत्।
ससिताक्षौद्रकुमुदकमलोत्पलकेसरम्॥ ३॥
लिह्यात् क्षीरघृतं खादेच्छृङ्गाटककसेरुकम्।
पिबेत् कान्ताब्जशालूकबालोदुम्बरवट्पयः॥ ४॥

श्रुतेन शालिकाकोलीद्विबलामधुकेक्षुभिः ।
पयसा रक्तशाल्यन्नमद्यात्समधुशर्करम् ॥ ५ ॥
रसैर्वा जाङ्गलैः

शतधौत घृत का नाभि से नीचे लेप करके उशीर कमल चन्दनादि के जलमें बिठावे। घृत तथा दुग्ध में क्षौद्र, कुमुद, उत्पल इनकी केशर को मिलाकर खिलावे। शृङ्गाटक, कसेरुक खावे। कान्ता, अब्ज, शालूक, बालोदुम्बर इन से साधित दुग्ध पिलावे। शालिधान्य, काकोली, बलाद्वय, यष्टि, इक्षु इन से सिद्ध दुग्ध पीवे। रक्तशालि के अन्न को मधुशर्करा मिलाकर दुग्ध से खावे अथवा जाङ्गल मांसरस से खावे।

वक्तव्य—शतधौत–बहुबार। अरुणदत्त तथा इन्दुके मतसे शत तथा सहस्रशब्द संख्यावाची नहीं है। इसलिये बहुधा प्रक्षालित। "सहस्रधौत–सर्पिः–यदनेकशोऽग्नौ विलाप्य शीतोदके प्रक्षिप्य स्त्यानीक्रियते" (इन्दु)।

अवगाह–निमज्जन। (च. सू. ७–७) क्षौद्र-मधु। सुश्रुतने मधु की अष्टविध जातियां तथा चरकने चार जातियां निर्दिष्ट की हैं, किन्तु मधु के योगवाही होने से "तद् युक्तं विविधैर्योगैर्निहन्यादामयान् बहून्। नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु" (सु. सू. ४५–१४२) सर्वथा सात्म्य होने पर भी पैत्तिकादिजातिविशिष्ट मधुका परित्याग करके ही प्रयोग करना चाहिये। कुमुद–कौ पृथिव्यां मोदते मुद्-क। कल्हारः। श्वेतोत्पलम्। कल्हारविशेष इत्येके। कमलम्–कं जलमलति भूषयति। पङ्कजम्। दिनविकाशीति हेमाद्रिः। उत्पलम्–उप लाति। 'पल गतौ'। नीलोत्पलम्। उत्पलं द्विधा-नीलं रक्तञ्च, रात्रिविकाशीति हेमाद्रिः। रक्तोत्पलमित्यरुणदत्तः। "उत्पलानि कषायाणि रक्तपित्तहराणि च" इति चरकः। क्षीर घृतको सिता तथा मधु एवं कुमुद कमल उत्पलों की केशर (किञ्जल्क) सहित चटावे। कुछ आचार्य "क्षीरादाहृतं क्षीरोद्भवं घृतं क्षीरघृतमिति" कहते हैं। क्षीरमथनात् समुद्भूतं नवनीतोत्थं घृतं

दुग्धोत्थनवनीतम्" (डल्हण) शृङ्गाटक–जलमध्ये त्रिकण्टकं सिंघाडा इति लोके 'इति डल्हणः।' त्रिकोणाकृतिजलोद्भवं कन्दमित्यरुणदत्तः। कसेरुका–कं शृणाति। शृ हिंसायाम्। अस्य कन्दोऽतीव शूकरप्रियः। लोमशकृष्णवर्तुलसूक्ष्मस्तडागकन्द इति हेमाद्रिः। (अ. हृ. सू. ६) कान्ता-प्रियङ्गुः। "कान्ता नार्यां प्रियङ्गौ"। मेदिनी। अब्ज-अद्भ्यो जायते। कमलम्–सरोजमब्जमप्पुष्पमरविन्दं महोत्पलम्" (वैजयन्ती) शालूक–उत्पलमूलमित्यरुणदत्तः–पद्ममूलं तु शालूकम्। धन्वन्तरिनिघण्टुः। 'शालूकं पद्मकन्दे स्या'दिति नरहरिः। 'पद्मादिकन्दः शालूकम्' (भा. प्र.) बालोदुम्बर-अपक्व-उदुम्बर। इन से साधित क्षीरपान। यहां पर क्षीरश्रपणविधि "पयस्युत्क्वाथ्य मुस्तानां विंशतिं" (अ. हृ. चि. अ. ९–३९) अनुसार कल्पना करें। कुछ आचार्य कान्तादि द्रव्योंके चूर्ण या कल्क से युक्त क्षीरपान का उपदेश करते हैं। शालि-हैमन्तिकधान्य। "कण्डनेन विना शुक्ला हैमन्ताः शालयः स्मृताः" (भा. मि.) शालयः श्वेततण्डुलाः (वैजयन्ती) अकण्डितशुक्ला हैमन्ताः, अन्ये तु कण्डितशुक्ला अकण्डितशुक्लाश्च हैमन्ताः शालयः (डल्हण सु. सू. ४६–४) काकोली-मोरंगदेशप्रसिद्धकन्दविशेषः। इस के अभाव में अश्वगन्धा वा शतावरी ग्रहण करना चाहिये। द्विबला–बला अतिबला च। बलातिबले शुक्लपीतपुष्प-मिति डल्हणः। मधुक-यष्टीमधु। "मधुकं क्लीतके खगे" (मेदिनी) इक्षुः-इष्यत इतीक्षुः। स्वनामख्यातमधुरवृक्षः। अतीव मधुरो मूले मध्ये मधुर एव च। अग्रेष्वक्षिषु विज्ञेय इक्षूणां लवणो रसः (सुश्रुत) इनसे सिद्ध दुग्ध। रक्तशालिः–तेषां लोहितकः श्रेष्ठो दोषघ्नः शुक्रमूत्रलः, (सुश्रुत) रसैः–देश एवं सात्म्यादिके अनुरोधसे जाङ्गलरसोंके साथ शाल्यन्न खावे।

शुद्धिवर्ज्यं चास्रोक्तमाचरेत्।

शुद्धिरहित रक्तपित्तचिकित्साका आचरण करे।

वक्तव्य—शोधनवर्ज्य समस्त रक्तपित्तप्रोक्त क्रियाओंको यथावसर करे। यहां अस्रशब्दसे उपलक्षणया रक्तपित्त ग्रहण किया गया है। उक्त-अभिहित। जो साधन रक्तपित्त की चिकित्साके लिये बाह्य तथा

आभ्यन्तररूपसे वर्णित हुए हैं, उनका सेवन करे। "यच्च पित्तज्वरे प्रोक्तं बहिरन्तश्च भेषजम्। रक्तपित्ते हितं तच्च क्षतक्षीणे हितं च तत्"॥ (र. पि. चि. ४) यद्यपि "विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च।" इस चरकचिकित्सासूत्रद्वारा रक्तपित्त का संशोधनप्रधान भेषज होने पर भी संशमन विषय निर्दिष्ट रोगोंमें "गर्भिणीं स्थविरं बालं रूक्षाल्पप्रमिताशिनम्। अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद् रक्तपित्तिनम्। शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनी क्रिया"। (च. चि. ४) इसलिये शोधन का परित्याग कर अन्य सभी बृंहण एवं शीत प्रयोगों का प्रयोग करे।

असम्पूर्णत्रिमासायाः प्रत्याख्याय प्रसाधयेत् ॥ ६ ॥
आमान्वये च

यदि तीन मास पूर्ण होने के प्रथम ही रक्तस्राव होने लग जावेतो प्रत्याख्यान कह कर उपचार करे. यदि रक्तस्राव के समय आमान्वय हो, तबभी प्रत्याख्यानद्वारा उपक्रम करे।

वक्तव्य—तीन मास के पूर्व गर्भ में सारभाग (कठिन भाग) उत्पन्न नहीं होता है। तथा तीन मास के बाद कठिन भाग उत्पन्न होने से रक्तस्राव होने पर भी रुकने की सम्भावना रहती है। यदि आमानुगत पुष्पदर्शन हो तो सञ्जातसार होने परभी विरुद्धोपक्रम होने से प्रत्याख्यात पूर्वक चिकित्स्य है। क्योंकि आम के पाचन के लिये उष्ण चिकित्सा उपयोगिनी है। तथा यह उष्णचिकित्सा रक्तस्राव में विरोधिनी है। क्योंकि यहां शीतोपक्रम उपादेय है। वह आमके लिये विरुद्ध है। "असम्पूर्णत्रिमासायास्तु पुष्पदर्शने गर्भः प्रायो न तिष्ठत्यसञ्जातसारत्वात्। आमान्वये चोर्ध्वमपि विरुद्धोपक्रमत्वात्। तत्र रूक्षशीतानि प्रयुञ्जीत"। (वृ. वा. शा. ४) "सा चेदपचाराद् द्वयोस्त्रिषु वा मासेषु सुपुष्पं पश्येन्नास्या गर्भः स्थास्यतीति विद्यात्, अजातसारो हि तस्मिन् काले भवति गर्भः" (च. शा. ८–२३) "यस्यां पुनरामान्वयात पुष्पदर्शनं स्यात्, प्रायस्तस्यास्तद्गर्भोपघातकरं भवति, विरुद्धोपक्रमत्वा-

दिति" । (चर.) गर्भस्रावे हि स्तम्भनं कर्तव्यं, तच्च शीतं मृदु मधुरं च, तच्चामविरुद्धमामजनकत्वादिति विरुद्धोपक्रमता । (चक्रपाणि)

तत्रेष्टं शीतं रूक्षोपसंहितम् ।
उपवासो घनोशीरगुडूच्यरलुधान्यकाः ॥ ७ ॥
दुरालभापर्पटकचन्दनातिविषाबलाः ।
क्वथिताः सलिले पानं तृणधान्यानि भोजनम् ॥ ८ ॥
मुद्गादियूषैरामे तु जिते स्निग्धादि पूर्ववत् ।

इस अवस्था में शीतल अन्नपानादि, रूक्ष से सम्मिश्रित उत्तम है । उपवास, घन, उशीर, गुडूची, अरलु, धान्यक, दुरालभा, पर्पटक, चन्दन, अतिविषा, बला इनका क्वाथ पीवे । भोजन में तृणधान्यादि को मुद्गयूष से देवे । आम के शान्त होजाने पर स्निग्धादि भोजन पूर्ववत् देवे ।

वक्तव्य—इस से आमान्वय तथा पुष्पदर्शन इन दोनों में अविरुद्ध चिकित्सोपक्रमका उपदेश करते हैं । इसलिये शीतपदार्थ रक्तस्राव के लिये पथ्य होने पर भी तिक्तकषायादि रूक्ष पदार्थों से युक्त होने पर आमावस्था में भी अविरुद्ध है । उपवास—देशसत्वाद्यनुरोधसे हित है । घन—मुस्ता । अरलु—श्योनाक । अरलुः वृक्षविशेषः प्रसिद्ध एव तदभावे श्योनाक इति शार्ङ्गधरसंहिताटीकायामाढमल्लः । अतिविषा—विषमतिक्रान्ता—इति । 'मुस्ता चातिविषाभावे' (भा. मि.) तृणधान्य—नीवारकोद्रवश्यामाकादि । 'कंगुकोद्रवनीवारश्यामाकादि हिमं लघु । तृणधान्यं पवनकृल्लेखनं कफपित्तहृत्' (अ. हृ. सू. ६) तृणानीव धान्यानि । अकृष्टोत्पन्नत्वात्, तुच्छधान्यम्, अत एव सुश्रुतेन कुधान्यमित्युक्तम् । 'क्षुद्रधान्यं कुधान्यं च तृणधान्यमिति स्मृतम्' (भावमिश्र) मुद्गादि—आदिशब्द से प्रकुष्टमसूरादि पित्तश्लेष्महरशिम्बीधान्यविशेष । सामावस्था में ही यह उपक्रम है, निरामावस्था में पूर्ववत्—यथा प्रथम रक्तदर्शन में स्निग्धशीतादि हित है, तद्वत्—यहां भी पूर्वनिर्दिष्ट स्निग्ध शीतादि हित होते हैं । इन स्निग्ध शीतों का बाह्य तथा अन्तः उपयोग किया जाता है ।

निष्कर्ष—यह आमगर्भ पुष्पदर्शनकी चिकित्सा है—इस में औषध से प्रथम उपवास, अनन्तर—घनोशीरादिकाथ का पान, तृणधान्यादिपेया, मुद्गादि यूषोंसे भोजन, क्रमशः ऐसा करने से आमकी निवृत्ति हो जाने पर प्रथम पुष्पदर्शनवत् स्निग्धादिका उपयोग करे।

गर्भे निपतिते तीक्ष्णं मद्यं सामर्थ्यतः पिबेत् ॥ ९ ॥
गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमर्तिविस्मरणाय च।
लघुना पञ्चमूलेन रूक्षां पेयां ततः पिबेत् ॥ १० ॥
पेयाममद्यपा कल्के साधितां पाञ्चकौलिके।
बिल्वादिपञ्चकक्काथे तिलोद्दालकतण्डुलैः ॥ ११ ॥
मासतुल्यदिनान्येवं पेयादिः पतिते क्रमः।
लघुरस्नेहलवणो दीपनीययुतो हितः ॥ १२ ॥

इस तरह उपक्रम करने पर भी यदि गर्भके सम्पूर्ण रूप से निकल जानेपर गर्भकोष्ठकी विशुद्धि के लिये तथा वेदनाविस्मरणार्थ सामर्थ्यानुसार मद्य को पीवे। लघुपञ्चमूलसे सिद्ध रूक्ष पेयाको बादमें पीवे। जो मद्यपा नहीं हो वह पञ्चकोल के कल्क से सिद्ध पेया को पीवे। बिल्वादि पञ्चमूलके काथ में तिल तथा उद्दालक तण्डुलों से निर्मित पेया को पीवे। जितने मास का गर्भ गिरा हो उतने दिनों तक पेयादिकी यह विधि करनी चाहिये। इस कालमें लघु तथा लवण स्नेह रहित दीपनीय द्रव्यों से युक्त आहार हितकारी होता है।

वक्तव्य—यहां पतित गर्भ की चिकित्सा निर्दिष्ट की है। निपतित—निःशेषपतित। लघुपञ्चमूल—"ह्रस्वं बृहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम्।" (अ. हृ. सू. ६. १६८) "पाञ्चकौलिक—पञ्चकोलस्यायं पाञ्चकौलिकः। पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। पञ्चभिः कोलमात्रं यत् पञ्चकोलं तदुच्यते"। (भा. प्र.) बिल्वादि—महत् पञ्चमूल। 'बिल्वकाश्मर्यतर्कारीपाटलाटिण्टुकैर्महत्' (अ. हृ. सू. ६. १६७) उद्दालक-व्रीहिविशेष। उद्दालको वनकोद्रवः 'कोदो' इति प्रसिद्धस्यैव भेदः (हाराण)

आरण्यकोद्रवः (डल्हण) दीपनीय–अग्निदीपन । (च. चि. २८–८७) "व्यपगतगर्भशल्यान्तु स्त्रियमामगर्भां सुरासीधु-अरिष्टमधुमदिरासवाना-मन्यतममग्रे सामर्थ्यतः पाययेद् गर्भकोष्ठविशुध्यर्थमार्तिविस्मरणार्थं प्रहर्षणार्थं च" । (च. शा. ८–३१) "अतीते लवणस्नेहवर्ज्याभिर्यवागूभि-रुद्दालकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत यावन्तो मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि" । (सु. शा. १०–५७) "आमगर्भे तु पतिते मद्याना-मन्यतमं सामर्थ्यतः पाययेत् । गर्भकोष्ठविशुध्यर्थमर्तिविस्मरणार्थं च । अमद्यपां पाचनीयद्रव्योपहिताभिः स्नेहलवणवर्ज्याभिः सतिलाभिरुद्दालका-दियवागूभिरुपाचरेद् यावन्तो मासास्तावन्त्यहानीति" । (अ. सं. शा. ४) यावत्संख्ये मासि गर्भपातस्तावत् संख्यान्यहान्ययं क्रमः । (इन्दु) यहां यह स्मरणीय है कि गर्भ का कुछ भी अंश भीतर शेष रह जानेपर पुनः पुनः रोग कष्टप्रद होता है, इसीलिये तीक्ष्ण औषधियोंसे गर्भ को बाहर निकाल देवे । बल की रक्षाका ध्यान रखते हुए । "आमगर्भशेषेण हि पुनः पुनरकुशलमनुषज्येत तस्मात्तीक्ष्णैरनवशेषयन्नुपाचरेत्" । (वृ. वा. ४)

दोषधातुपरिक्लेदशोषार्थं विधिरित्ययम् ।

दोष तथा धातु इन के परिक्लेद के शोषण के लिये यह विधि है ।

वक्तव्य—दोष–पित्त, कफ । वायु के क्लेद न होने से यह नहीं लिया गया है । यहां दोषधातुक्लेदविशोषणपर्यन्त यथोक्तक्रमकी अवधि का वर्णन हुआ है । "उपाचरेद् दोषधातुक्लेदविशोषणमात्रं कालम्" । (च. शा. ८–३१) "आदोषधातुक्लेदशुद्धेः" (अ. सं. शा. ४) यहां 'मासतुल्यदिनान्येवं' यह तत्कालोपयोगी यवाग्वादि आहारों के पान का समयनिर्देश करने पर भी चरकमें दोषधातुक्लेदविशोधनमात्र वा तत्कालम्" अर्थात्–यावता कालेन दोषधातुक्लेदानां विशुद्धिः स्यात् तावत् कालमात्रं वा उपाचरेत् । द्वारा स्पष्ट कर दिया है ।

स्नेहान्नबस्तयश्चोर्ध्वं बल्यदीपनजीवनाः ॥ १३ ॥

दोषधातुपरिक्लेद के शोषित होजाने पर बल्य, दीपन, जीवन गुणयुक्त स्नेह, अन्न तथा बस्तियों का उपयोग करें ।

वक्तव्य—स्नेह–चतुर्विध । ' सर्पिस्तैले वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः ' (च. सू. १३–१३) पानादि में हित है । अन्न–स्निग्ध होना चाहिये, रूक्ष हितकारक नहीं होता है । बस्तयः–ये भी स्निग्ध ही हो, रूक्ष नहीं । रूक्षों से वातप्रकोप का भय रहता है । " बस्तिर्वयः-स्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च । सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां निरामयः सर्वगदापहश्च " । (च. सि. अ. १–२७) बल्य–बलकारक । दीपन–अग्निको सन्धुक्षणकारी । जीवन-ओजवृद्धिकारक । " अतः परं स्नेहपानैर्बस्तिभिराहारविधिभिश्च दीपनीयजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरैरुपचारैराचरेत् " । (च. शा. ८–३१) ततः परं स्नेहपानैर्बस्तिभिराहारैश्च दीपनीयपाचनीयजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरैरिति । (अ. सं. शा. ४)

सञ्जातसारे महति गर्भे योनिपरिस्रवात् ।
वृद्धिमप्राप्नुवन् गर्भः कोष्ठे तिष्ठति सस्फुरः ॥ १४ ॥
उपविष्टकमाहुस्तं, वर्द्धते तेन नोदरम् ।

जिस स्त्री के चतुर्थ मास के अनन्तर गर्भ में कठिनत्व आ जाने पर बढा हुआ गर्भ योनिसे रक्तस्राव होजाने पर वृद्धि को प्राप्त न होता हुआ गर्भाशय में ही गति करता हुआ रुक जाता है, इस स्थिति को उपविष्टक कहते हैं । इससे उदर की वृद्धि नहीं होती है ।

वक्तव्य—यस्याः गर्भिण्याः गर्भे महति सञ्जातसारे बलवति सति । अथ च उष्णतीक्ष्णोपयोगात् पुष्पदर्शनम् । अदृष्टवशादन्यो वा आर्तवव्यतिरिक्तः योनिपरिस्रावो वा भवेत् । निःस्रुतत्वात् तस्या गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति । स गर्भाशये (कोष्ठे) सस्फुरश्चलनशीलः, एतावन्मात्राविशेषावस्थः प्रसवकालमतीत्य तिष्ठति तस्य उपविष्टकमिति संज्ञा । तेन उदरं वृद्धिं न प्राप्नोति, गर्भस्यैवावृद्धेः । नहि यद् यस्य वृद्धौ वर्द्धते तदवृद्धौ तस्य वृद्धिः स्यात् । " तथा च चरकः–" यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद् गर्भिण्या महति सञ्जातसारे गर्भे पुष्पदर्शनं स्यादन्यो वा योनिस्रावस्तस्या गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्रुतत्वात् " । स कालान्तरमवतिष्ठतेऽतिमात्रम् । तमुपविष्टक-

मित्याचक्षते केचित्। (च. शा. ८) अतुल्यगोत्रीयेऽपि " आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा। तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात् " इति।

सुश्रुत ने ' एवं क्षिप्रमुपक्रान्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते ' (सु. शा. १०-९०) तत्रान्तरे चोपविष्टकाख्योऽयं गर्भः कथितः। (डल्हण) इसका सुन्दर स्वरूपवर्णन वृद्धवाग्भट ने " तत्र यस्याः कादाचित्कार्तवपरिस्रावावल्पौ च दृश्येते सततं च गर्भः प्राप्तात्परिमाणादपरिहीयमान एव स्फुरति, न च कुक्षिर्विवर्धते तमुपविष्टकमित्याचक्षते " (शा. ४) किया है।

शोकोपवासरूक्षाद्यैरथवा योन्यतिस्रवात् ॥ १५ ॥
वाते क्रुद्धे कृशः शुष्येद् गर्भो नागोदरं तु तम्।
उदरं वृद्धमप्यत्र हीयते स्फुरणं चिरात् ॥ १६ ॥

शोक, उपवास, रूक्षादिपदार्थों के भोजनों से अथवा योनि से अतिस्राव होने के कारण वायु के प्रकुपित होने पर गर्भ शुष्क हो जाता है। इस को नागोदर कहते हैं। इस में वृद्ध उदर भी घट जाता है, स्फुरण देर से होता है।

वक्तव्य—गर्भ गर्भिणी के अपचयकारके तथा वातप्रकोपक शोक उपवास एवं रूक्षादि भोजनोंसे अथवा गर्भ तथा गर्भिणी के लिये उपचयप्रद आहारविहारों के सेवन से उपचित गर्भ एवं गर्भिणी के कदाचित् अत्यन्त रक्तस्राव कारक पदार्थों के आहार विहारोंसे, उस समय योन्यतिस्राव हो जाता है। इस योन्यतिस्राव कारणसे पवन प्रकुपित होकर पित्तश्लेष्मा को ग्रहण कर रसवहा नाड़ी का अवपीडन करता है, इस से दोषों से प्रतिच्छन्न नाड़ी में रस के सम्यग् वहन न होने से गर्भ की वृद्धि नहीं होती है. इस से वह शुष्क होजाता है। इस नागोदरमें वृद्ध भी उदर क्षीण होता जाता है, उपविष्टक में केवल वृद्धि नहीं होती है. तथा हानि नहीं होती। इसीको उपशुष्कक भी कहते हैं।

"उपवासव्रतकर्मपराया: पुनः कदाहाराया: स्नेहद्वेषिण्या वातप्रकोपणान्यासेवमानाया गर्भो वृद्धिं नाप्नोति परिशुष्कत्वात्। स चापि कालान्तरमवतिष्ठतेऽतिमात्रम्। अस्पन्दनश्च भवति। तं तु नागोदरमित्याचक्षते"। (च. शा. ८–२६) "वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च"। शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद् यदृच्छयोपशान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः"। (सु. शा. १०–६१)। "यस्याः पुनर्महति जातसारे गर्भो वर्ज्यानामवर्जनात् पुष्पदर्शनं स्यादन्यद् वा योनिस्रवणम्। तस्यास्तन्निमित्तं वायुः प्रकुपितः पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्य गर्भस्य रसवहां नाडीं प्रतिपीड्यावतिष्ठते। ततो नाड्यां दोषैः कुल्यायामिव तृणपत्रादिभिः प्रतिच्छन्नायां रसस्यासम्यग्वहनाद् गर्भो वृद्धिमनाप्नुवन्नुपविशति–उपशुष्यति वा"। (वृ. वा. शा. ४) इन कल्पनाओंसे गर्भ की अवृद्धि तथा शुष्कत्व के कारणों का निर्देश करते हुए "परिहीयमाणो गर्भश्चिरात् किञ्चित् स्पन्दते। कुक्षिश्च वृद्धोऽपि परिहीयते"। इति। अर्थात् नागोदर में गर्भधारण होने के अनन्तर कुछ समयतक गर्भवृद्धि होकर उसके बाद उसकी वृद्धि रुक जाती है तथा गर्भ सूखने लगता है। वस्तुतः यह वातविकृति का एक परिणाम है।

गर्भनाड्यास्त्ववहनादल्पत्वाद् वा रसस्य च।
चिरेणाप्यायते गर्भस्तथैवाकालभोजनात्।
अकुक्षिपूरणं गर्भस्पन्दनं मन्दमेव च। (वृ. काश्यप.)
तदुपशुष्ककं नागोदरश्च। (अ. सं.)
तं गर्भमुपशुष्ककनागोदरशब्दाभ्यामाचक्षते। (इन्दु.)
तयोर्बृंहणवातघ्नमधुरद्रव्यसंस्कृतैः।
घृतक्षीररसैस्तृप्तिरामगर्भांश्च खादयेत्॥ १७॥
तैरेव च सुभिक्षायाः क्षोभणं यानवाहनैः।

इन उपविष्टक नागोदर नामक गर्भों में बृंहण, वातघ्न तथा मधुर द्रव्यों से संस्कृत घृत दुग्ध मांसरसों से गर्भिणी की तृप्ति करे तथा

आम गर्भों को खिलावे। तृप्तिपूर्वक भोजन कर यानवाहनादि द्वारा गर्भिणी वेगपूर्वक गमन करे।

वक्तव्य—अत्र उपविष्टकोपशुष्कयोरेकविधैव चिकित्सा कथ्यते सामान्यतः। बृंहणवातघ्नमधुरद्रव्यसिद्धानां घृतानां क्षीराणां मांसरसानामामगर्भाणाञ्चोपयोगः गर्भवृद्धिकरः। आमगर्भाश्छागैणादीनां भ्रूणाः। विहङ्गमत्स्यादीनामण्डानि च। वृद्धवाग्भटे—वातपित्तश्लेष्मभिः जनितोपविष्टकनागोदरयोर्विशदं चिकित्सा विद्यते। अथ च एतैर्व्यस्तगुणैर्द्रव्यैः संस्कृतेन घृतादिना तृप्तिर्न कार्या, किं तर्हि ? समस्तबृंहणादिगुणयुक्तैर्द्रव्यैः संस्कृतैरिति बोध्यम् " इत्यरुणदत्तः "। नार्योस्तयोरुभयोरपि चिकित्सितविशेषमुपदेक्ष्यामः।" भौतिकजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धानां सर्पिषां पयसामामगर्भाणां चोपयोगो गर्भवृद्धिकरः। संभोजनमेतैरेव सिद्धैश्च घृतादिभिः सुबुभुक्षायाम्। अभीक्ष्णं यानवाहनापमार्जनावजृम्भणैरुपपादनमिति "। (च. शा. ८) " तयोर्जीवनीयबृंहणीयमधुरौषधसिद्धाना सर्पिषामुपयोगः। तथा पयसां रसानामामगर्भाणां च गर्भवृद्धिकरः। तथा संभोजनमेतैरेव च घृतादिभिः। सुभिक्षाया अभीक्ष्णं यानवाहनापवर्जनबृंहणैरुपपादनम्" (वृ. वा. शा. ४) " कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुदूखलं मुशलेनाभिहन्याद् विषमे वा यानासने सेवेत " इति सुश्रुतः। यात्यनेनेति—यानं रथादि, वाह्यत इति वाहनमश्वादि। क्षोभणम् चलनम्।

लीनाख्ये निस्फुरे श्येनगोमत्स्योत्क्रोशबर्हिजाः ॥ १८ ॥
रसा बहुघृता देया माषमूलकजा अपि।
बालबिल्वं तिलान्माषान् सक्तूंश्च पयसा पिबेत् ॥ १९ ॥
समेद्यमांसं मधु वा कट्यभ्यङ्गं च शीलयेत्।

लीनाख्य गर्भ के लिये श्येन, गौ, मत्स्य, उत्क्रोश, मयूर इन के मांसरस को प्रभूत घृत के साथ देवे। माषमूली के रस को बहु घृत से देवे। बालबिल्व, तिल, माष, सक्तू इन को दुग्ध के साथ पीवे। समेद्यमांस के साथ मधु को पीवे तथा कटिप्रदेश पर अभ्यङ्ग करे।

वक्तव्य—लीनः-लीनो नाम गर्भो यो गर्भिण्या वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो न स्पन्दते। तथा च वृद्धवाग्भटः-"यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः"। (अ. शा. ४) यस्याः 'पुनर्गर्भो न स्पन्दते' (चरकः) वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते (सुश्रुतः) अर्थात्-जिस गर्भिणी का गर्भ वातोपसृष्ट होकर स्रोतस् में लीन हो जाता है, वह प्रसुप्त हो जाता है। उसमें स्पन्दन नहीं होता। वह बहुत कालतक गर्भाशय में रहकर नष्ट हो जाता है। श्येन—बाज। प्रसहजातीयपक्षिविशेष। "श्येनः पक्षिणि पाण्डुरे" (मेदिनी) 'श्येनः शशादः क्रव्यादः क्रूरो वेगी खगान्तकः। कामान्धस्तीव्रसन्तापस्तरस्वी तार्क्ष्यनायकः' (ध. नि.) उत्क्रोश—कुररः, मत्स्याशीति डल्हणः। बर्ही—बर्हं पुच्छमस्यास्तीति। बर्हति नृत्येनोर्ध्वीभवति बर्हम्। मयूरः। "मयूरो बर्हिणो बर्ही" (अमरः) रसाः-मांसरसाः। रसो मांसस्य चक्षुष्यो बृंहणः प्राणवर्धनः (रा. नि.) माष—उडद। "वृष्यः परं वातहरः स्निग्धोष्णो मधुरो गुरुः। बल्यो बहुमलः पुंस्त्वं माषः शीघ्रं ददाति च (चरक. सू. २७) मूलक-मूली। "कटुतिक्तरसा हृद्या रोचनी वन्हिदीपनी। सर्वदोषहरा लघ्वी कन्या मूलकपोतिका" (सु. सू. ४६) बालबिल्वम् बिल्वस्य कोमलफलम्। तिलः-'तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः स्निग्धो व्रणे लेपन एव पथ्यः (सुश्रुत) सक्तुः—यवतण्डुललाजादिचूर्णम्। धान्यानि भ्राष्ट्रभृष्टानि यन्त्रपिष्टानि सक्तवः (भा. मि.) 'भृष्टानां निस्तुषयवानां चूर्णं सक्तव इति हेमाद्रिः (अष्टा० को०) यवतण्डुललाजानां चूर्णे सक्तः प्रकीर्तितः' इति। मधु-मधु मार्द्वीकं वा। अभ्यङ्ग—ईषदुष्ण। "तां श्येनमत्स्यगवयतित्तिरिताम्रचूडशिखीनामन्यतमस्य सर्पिष्मता रसेन माषयूषेण वा प्रभूतसर्पिषा मूलकयूषेण वा रक्तशालीनामोदनं मृदु मधुरशीतं भोजयेत्। तैलाभ्यङ्गेवास्याश्चाभीक्ष्णमुदरबस्तिवंक्षणोरुकटीपार्श्वपृष्ठप्रदेशानीषदुष्णेनोपचरेत्" (च. शा. ८)

" तत्र श्येनोत्क्रोश-गो-मत्स्य-गोधा-शिखि-कुक्कुट-तित्तिरीणामन्यतमस्य रसेन भूरिसर्पिष्केण माषयूषेण, मूलकयूषेण वा घृताढ्येन रक्तशाल्योदनं भोजयेत्। सक्तून् वा तिलमाषबिल्वशलाटुयुक्तान् पयसा पाययेत्। मेद्यमांसोपदंशं वा मार्द्वीकम्। तैलेन चाभीक्ष्णमुदरवंक्षणोरुकटीपार्श्वपृष्ठान्यभ्यञ्ज्यात्। मुहुर्मुहुश्चैनां हर्षयेत्। पूर्वोक्तं चेक्षेत "। (वृ. वा. शा. ४) " तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति, मन्दं च स्पन्दते, तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांसरसैश्चोपचरेत् "। (सुश्रुत. शा. १०)

हर्षयेत् सततं चैनामेवं गर्भः प्रवर्धते ॥ २० ॥

इस उपविष्टक नागोदर लीनाख्य गर्भोदरस्थ गर्भिणी को पुनः पुनः प्रसन्न रक्खे, ऐसा करनेसे गर्भ की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—सततं-मुहुर्मुहुः। इतिकर्तव्यतया गर्भो वृद्धिं प्राप्नोति।

पुष्टोऽन्यथा वर्षगणैः कृच्छ्राज्जायेत, नैव वा।

अन्यथा बहुतवर्षों तक कृच्छ्रतासे पुष्ट होता है, अथवा उत्पन्न नहीं भी होता है।

वक्तव्य—अन्यथा–पूर्वोक्त विपरीत रूक्षादि पदार्थोंका सेवन, माता के अल्प आहार रस। पुष्ट–चेतनामात्रावशेष। अयं भावः–गर्भिण्या आहारप्राया गर्भस्याहारप्राप्तिर्भवतीति नियमः, तथा च मातुराहारतेजसा स्वल्पेनाप्याय्यमानो गर्भो वर्षाणां गणैरपि पुष्टः कृच्छ्राज्जायते-कष्टेन योनितो निष्क्रामेत्। अथवा यावज्जीवं मातुः कुक्षावेवासीदेत्। तथाच चरकः–" आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रवं वा। तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात् "। (च. शा. २. १५) संग्रहेऽपि–" तौ तु मातुराहारतेजसाऽल्पेनाप्याय्यमानौ यदा पुष्टौ स्यातां केशदशनादियुक्तौ तदा वर्षगणैरपि प्रमदा प्रसूयेत एव "। इति।

उदावर्तं तु गर्भिण्याः स्नेहैराशुतरां जयेत् ॥ २१ ॥

योग्यैश्च बस्तिभिर्हन्यात्सगर्भां स हि गर्भिणीम्।

गर्भिणी के उदावर्त को स्नेहों से शीघ्र शान्त करे। योग्यबस्तियों से भी उपचार करे। क्योंकि यह उदावर्त गर्भ के साथ गर्भवती का भी नाश कर देता है।

वक्तव्य—उदावर्त–अधारणीय वेगों के धारण करने से आवृत वायुका विलोम गति से इतस्ततः भ्रमण करना ही उदावर्त है। अर्थात् वात, पित्त, पुरीष, मूत्र, प्रभृति मलोकी जिस रोग में ऊर्ध्वदिशामें भ्रमण होता है उसे उदावर्त कहते हैं। उत् ऊर्ध्वं वातविण्मूत्रादीनामावर्तो भ्रमणं यस्मिन् रोगे स उदावर्तः। अन्ये पुरीषं वायुना वर्तुलीकृतमुदावर्तं मन्यन्ते, लोकप्रसिद्धत्वात्" (डल्ह.) स्नेह–चतुर्विध। यथायोग्य भेषजों से सिद्ध किये हुए। योग्य–तत्कालोचित। बस्तिभिः–अनुवासनैः। "उदावर्तो ह्युपेक्षितः सहसा सगर्भां गर्भिणीं गर्भमथवाऽतिपातयेत्।" (च. शा. ८-२९) "अष्टमे बदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तुतैललवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत। अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति" (सु. शा. १०.) इस श्लोक से उदावर्त की उपेक्षामें दोष तथा अवश्य उदावर्त की चिकित्सा का निर्देश किया है।

गर्भेऽतिदोषोपचयादपथ्यैर्दैवतोऽपि वा ॥ २२ ॥
मृतेऽन्तरुदरं शीतं स्तब्धं ध्मातं भृशव्यथम्।
गर्भास्पन्दो भ्रमस्तृष्णा कृच्छ्रादुच्छ्वसनं क्लमः ॥ २३ ॥
अरतिः स्रस्तनेत्रत्वमावीनामसमुद्भवः।

वातादिदोषोंके अतिशय उपचय होने से, अपथ्यसेवन से अथवा दैवयोग से गर्भ के गर्भाशय में मर जाने पर उदर शीतल स्तब्ध ध्मात, भृशव्यथ वाला होता है। गर्भास्पन्द, भ्रम, तृष्णा, कष्ट से उच्छ्वास, क्लम, अरति, स्रस्तनेत्रत्व तथा आवियोंकी अनुत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—अतिदोषोपचय–उपचय–प्रवृद्धिः, दोषाणामतिमात्रोपचयादित्यर्थः। अपथ्यैः–स्वभावमात्राकालादिविरुद्धस्वभावैः पथ्यं हितम्, "शान्तिं नयेत् पथ्यमपि प्रयुक्तम्"। (च. सि. १-५८) पथ्यं पथोऽन-

पेतं यद् यच्चोक्तं मनसः प्रियम् " मनः शरीरानुपघाति पथ्यमिति चक्रः " "आयुर्वेदोदितमार्गः पन्थास्तस्मादनपेतमायुर्वेदाविरुध्दं यदाहारादि तदेव-पथ्यम्" इति शिवदासः। दैवतः—दैव-"निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदैहिकम् (च. शा. १-११५) दैवं पुरा यत्कृतमुच्यते तत् (शा. २-४४) "दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदैहिकम्, प्राक्तनकर्म। (वि. ३-३०) शीत-उष्मारहित। अर्थात् उदर का स्पर्श शीत होना। स्तब्ध—निश्चल। ध्मात-दृतिवत्-वातपूरित। भृशव्यथ-अतिवेदना। गर्भास्पन्द-गर्भका अस्फुरण। उच्छ्वसन-गर्भिणीका-ऊर्ध्वश्वसन। अरति—स्थानासनशयनादि में मनकी अनवस्थितता। स्रस्त-स्थानच्युत। आवी-आसन्नप्रसवकालज शूलविशेष। "यस्याः पुनरतिमात्रदोषोपचयाद् वा तीक्ष्णोष्णातिमात्र-सेवनाद् वा वातमूत्रपुरीषवेगविधारणैर्वाते विषमाशनशयनस्थानसंपीडनैर्वा क्रोधशोकेर्ष्याभयत्रासादिभिर्वा साहसैः परैः कर्मभिरन्तःकुक्षौ गर्भो म्रियते। तस्याः स्तिमितं स्तब्धमुदरमाततं शीतमश्मान्तर्गतमिव भवत्यस्पन्दनो गर्भः शूलमधिकमुपजायते। नचाव्यः प्रादुर्भवन्ति। योनिर्न प्रस्रवति। अक्षिणी चास्याः स्रस्ते भवतः। सा ताम्यति। व्यथते। भ्रमते। श्वसिति। अरतिबहुला च भवति। न चास्या वेगप्रादुर्भावो वा यथावदुपलभ्यत इति एवंलक्षणां स्त्रियं मृतगर्भेयमिति विद्यात्। (च. शा. ८–३७) यह गर्भव्यापत्ति-निदान पूर्वक मृतगर्भाके लक्षण हैं। आचार्य सुश्रुतने भी "ग्राम्यधर्म-यानवाहनाध्वगमनप्रस्खलनप्रपतनप्रपीडनधावनाभिघातविषमशयनासनोप-वासवेगविघातातिरूक्षकटुतिक्तभोजनशोकातिक्षारसेवनातिसारवमनविरेचन-प्रेङ्खोलनाजीर्णगर्भशातनप्रभृतिभिर्विशेषैर्बन्धनान्मुच्यते गर्भः फलमिव वृन्तबन्धनादभिघातविशेषैः"। (सु. सूत्र. नि. ८) "गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता। भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तर्मृते शिशौ"। तथा—अन्यत्रभी—"यदा सोऽन्तर्मृतो गर्भः शूनो बस्तिरिवाततः। तेनावृताया नार्यास्तु कुक्षिरानह्यते भृशम्। उत्क्षिप्यन्त इवाङ्गानि मूत्रबस्तिश्च भिद्यते। क्लोम प्लीहा यकृच्चैव फुप्फुसं हृदयं तथा। गर्भेण पीडितं ह्येतदूर्ध्वं प्रक्रामति

स्त्रियाः । सा शूयते मुह्यति च कृच्छ्रोच्छ्वासा च जायते । पूतिगन्धस्तथा स्वेदो जिव्हा तालु च शुष्यति । वेपते भ्राम्यति तथा जीवितं चोपरुध्यते । एतैर्लिङ्गैर्विजानीयान्मृतं गर्भं चिकित्सकाः" । इति । (डल्हणः)

तस्याः कोष्णाम्बुसिक्तायाः पिष्ट्वा योनिं प्रलेपयेत् ।
गुडं किण्वं सलवणं तथान्तः पूरयेन्मुहुः ।
घृतेन कल्कीकृतया शाल्मल्यतसिपिच्छया ॥ २५ ॥
मन्त्रैयागजरायूक्तैर्मूढगर्भो न चेत्पतेत् ।
अथापृच्छयेश्वरं वैद्यो यत्नेनाशु तमाहरेत् ॥ २६ ॥
हस्तमभ्यज्य योनिं च साज्यशाल्मलिपिच्छया ।
हस्तेन शक्यं तेनैव

इस अन्तर्मृतगर्भा स्त्री की योनि को कोष्णजलसे सिक्त करके गुड़, किण्व तथा लवण को पीसकर सामर्थ्यानुसार योनि में लेप करे । यह लेप योनि के अभ्यन्तर एवं बाहर भी करे । शाल्मली, अतसी की पिच्छा को घृत के साथ कल्क करके पुनः पुनः योनि के भीतर पूरण करे । अथर्ववेदोक्तमंत्रोंसे तथा जरायु निष्कासनार्थ प्रयोगों से बाहर निकाले । यह मूढगर्भ इस से भी बाहर नहीं आवे तो अधिपति की आज्ञा लेकर यत्न पूर्वक इस मूढगर्भ को शीघ्र निकालने के लिये हस्त और योनि को घृत मिश्रित शाल्मलि पिच्छा से चिक्कण करके हाथ से निकालना सम्भव हो तो हाथ से खींच लेवे ।

वक्तव्य—यहां मृतगर्भ की चिकित्सा कहते हैं । किण्व सुराबीज । सुराकांजिकाधःस्थित द्रव्य । किण्वं पापे सुराबीजे (विश्व) शाल्मली–सेमल । " षष्टिवर्षसहस्राणि वने जीवति शाल्मली " । इति । " शाल्मली शीतला स्वाद्वी रसे पाके रसायनी । श्लेष्मला पित्तवातास्रहारिणी रक्तपित्तजित् " (भा. प्र.) अतसी–तिसी । " अतसी मधुरा तिक्ता स्निग्धी पाके कटुर्गुरुः " । (ध. नि.) मन्त्र–सङ्ग्रहोक्त (शा. अ. ३) में क्षितिर्जलम्–इत्यादि । अथवा आथर्वणप्रोक्त मंत्र । जो

जरायुः–अपरा, अपरानाम–येन वेष्टिता मनुष्यादयः प्रजायन्ते। मन्त्र–"मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः" (श. क.) मूढगर्भः–जडगर्भः। "मूढो निरुद्धगतिः। तदुक्तं–सर्वावयवसम्पूर्णो मनोबुद्ध्यादिसंयुतः। विगुणापानसंमूढो मूढगर्भोऽभिधीयते" इति (सु. नि. ८–१ डह्लणः) "तस्य गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातनं कर्मसंशमनमित्याहुरेके। मन्त्रादिकमथर्ववेदविहितमित्येके। परिदृष्टकर्मणा शल्यहर्त्रा हरणमित्येके" (च. शा. ८) "निर्हर्तुमशक्ये–च्यावनान् मंत्रानुपशृणुयात्, तान् वक्ष्यामः।

इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि।
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते।
इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्रि!।
तदनलपवनार्कवासवास्ते सहलवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम्।
मुक्ताः पशोर्विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः।
मुक्ताः सर्वभयाद् गर्भ एह्येहि विरमावितः॥ (सु. चि. १५)

गात्रं च विषमं स्थितम्॥ २७॥
आञ्छनोत्पीडसम्पीडविक्षेपोत्क्षेपणादिभिः।
आनुलोम्य समाकर्षेद् योनिं प्रत्यार्जवागतम्॥ २८॥

गर्भका शरीर विषमरूपमें स्थित हो तो इसके लिये आञ्छन, उत्पीडन, सम्पीडन, विक्षेप, उत्क्षेपण आदि क्रियाओं द्वारा प्रत्यार्जवागत कर के योनिकी तरफ सीधी आजाने पर खींच लेवे।

वक्तव्य—आञ्छन-सङ्कुचित अङ्गको खींचना (Extension) आतमदिकरणम् (इन्दु.) आयामेन दीर्घतया स्थापनम् (अ. द.) "कुञ्चितस्याङ्गुल्यादेरायामनम्" (चक्र. सु. सू. ७.१७) उत्पीडन–ऊर्ध्वपीडन तथा समन्तात् पीडन, विक्षेप–विशेषप्रेरण, उत्क्षेपण–अधिक क्षेपण। आदि–एवं प्रायः स्वबुद्धिपरिकल्पित अन्य उपाय। ये क्रियाएं स्थूल मार्ग प्रदर्शित करने के लिये हैं, इयत्ता प्रदर्शित करने के लिये

नहीं। इसी लिये "स्वबुद्ध्या चापि विभजेद् यन्त्रकर्माणि बुद्धिमान्" (सु. सू. ७) तथा "अतः कर्मवशात्तेषामियत्तावधारणमशक्यम्" (अ. सं.) प्रत्यार्जव–पहिलेकी स्थिति में लाकर (सीधी) कर के आर्जवमानीय ऋजुभावमानीयापहरेदिति डल्हणः। यह मूढगर्भाहरण प्रकार है। इसको अधिक स्पष्ट संग्रहकारने किया है" तत्र सक्थिभ्यामागतस्यानुलोममाञ्छनमेव। एकसक्थिप्रपन्नस्येतरं सक्थि प्रसार्य, स्फिग्देशागतस्य स्फिग्देशं प्रतिपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य सक्थिनी प्रसार्य, तिर्यगागतस्य परिघस्येवापरार्धमुत्क्षिप्य–पूर्वार्द्धमपत्यपथं प्रत्यार्जवमानीय, पार्श्वापवृत्तशिरसोंऽसं प्रतिपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य शिरोपत्यपथमानीय, बाहुद्वयप्रपन्नस्योर्ध्वमुत्पीड्यांसौ शिरोमूलमानीय निर्हरेत्" (वृ. वा. शा. ४) सुश्रुतने भी मंत्रतन्त्र प्रसूतीजननव्यापारों के असफल होनेपर गर्भकी मृतावस्थामें तथा गर्भिणीके जीवित होने पर इन आच्छनादि क्रियाओंद्वारा वाग्भट निर्दिष्ट इन षट्‌ मूढगर्भाहरण विशेषों का वर्णन करते हुए डल्हणने 'तत्र आद्यं मूढगर्भत्रितयं पादाभ्यामाहरणीयं, तदितरत्तु त्रितयं शिरसा" द्वारा स्पष्ट किया है।

हस्तपादशिरोभिर्यो योनिं भग्नः प्रपद्यते।
पादेन योनिमेकेन भुग्नोऽन्येन गुदं च यः॥ २९॥
विष्कम्भौ नाम तौ मूढौ शस्त्रदारणमर्हतः॥

जो मूढगर्भ अपने बीच के भाग को मोडकर हस्त, पाद तथा शिर के द्वारा योनि में फस जाता है, अथवा एक पाद योनि में दूसरा वक्र होकर गुदा में फस जाता है, इन दोनों मूढगर्भों को विष्कम्भ कहते हैं, इन में शल्यचिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—यहां दो प्रकार के मूढगर्भों का वर्णन हुआ है। १ एकही साथ हस्त, पाद एवं सिरका मुडे हुए शरीर के साथ निकलना। इसी प्रकार के अवतरणों को सुश्रुतीय दृष्टया "प्रतिखुर" कहते हैं। यह दशा जटिलोदय में मिलती है। २ एक पैर से योनिमुख

में और दूसरे से गुदा की तरफ होकर अवरुद्ध हो जाता है। ऐसा पादोदय या जानूदय में" सम्भव है। इन दोनों मूढगर्भों का हाथों से अपहरण नहीं हो सके तो शस्त्रका अवचारण करना चाहिये।

मण्डलाङ्गुलिशस्त्राभ्यां तत्र कर्म प्रशस्यते ॥ ३० ॥

इस विष्कम्भ नामक मूढगर्भ की चिकित्साके लिये मण्डलाग्र-शस्त्र तथा अङ्गुलिशस्त्रों से दारणकर्म करना चाहिये।

वक्तव्य—आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि मूढगर्भ शल्य के समान कष्टकर कोई भी शल्यकर्म नहीं है। यह एक कष्टतम उपचार है, यहां पर चिकित्सा करते समय योनि, यकृत्, प्लीहा, अन्त्र, गर्भाशय आदि गर्भाङ्गोंके मध्य से होकर शस्त्र कर्म किया जाता है। "नातः कष्टतममस्ति यथामूढगर्भशल्योद्धरणम् । अत्र हि योनियकृत्प्लीहान्त्रगर्भाशयानां मध्ये कर्म कर्तव्यं स्पर्शेन, उत्कर्षापकर्षणस्थानापवर्तनोत्कर्तनभेदनच्छेदपीडनर्जू-करणदारणानि चैकहस्तेन। गर्भं गर्भिणीं चाहिंसता, तस्मादधिपति-मापृच्छय परं च यत्नमास्थायोपक्रमेत। (सु. चि. १५) मण्डलाग्र—जिस का अग्रभाग गोल होता है, उस को मण्डलाग्र कहते हैं। "मण्डल-मिवाग्रं यस्य तन्मण्डलाग्रम्। (डह्लण) मण्डलमग्रे यस्येति व्युत्पत्त्या मण्डलाग्रमिति" हाराणचन्द्रः। यह दो प्रकार का होता है। "यदग्रे मण्डलं वृत्तं क्षुरसंस्थानमेव वा। मण्डलाग्रं विजानीयात् प्रमाणं तु षडङ्गुलम्"। (भालुकि) "द्वे मण्डलाग्रे ये प्रोक्ते एकं वृत्तमुखं तयोः। तीक्ष्णधारं दृढं कार्यमेकं तच्च क्षुराकृति"। इति भानुमत्यां भोजः। एक वृत्तमुख और दूसरा क्षुराकार। "मण्डलाग्रं फले तेषां तर्जन्यन्तर्नखाकृति। लेखने छेदने योज्यं पोथकी शुण्डिकादिषु" (वाग्भट सू. २६) इस वचन के अनुसार मण्डलाग्र शस्त्राकृति होता है। अङ्गुलिशस्त्र—"कुर्यादङ्गुलिशस्त्रकम्। मुद्रिकानिर्गतमुखं फले त्वर्धाङ्गुलायतम्। योगतो वृद्धिपत्रेण मण्डलाग्रेण वा समम्। तत्प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रमाणार्पणमुद्रिकम्। सूत्रबद्धं गलस्रोतोरोगच्छेदन-भेदने"। (अ. हृ. सू. २६) सुश्रुतने इस को "मुद्रिका" नाम दिया है।

"प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रदेशप्रमाणा मुद्रिका" (सुश्रुत. सू. ८) यह शस्त्र तर्जनी अङ्गुली के अगले पोरवे के प्रमाण का होता है। "मुद्रिकाशस्त्रं 'क्षुर' इति प्रसिद्धं, तत्र भालुकिः—"मुद्रिकया विबद्धं स्याद् वृद्धिपत्रसलक्षणम्। द्व्यङ्गुलं मुद्रिकाशस्त्रं क्षुरसंस्थानमेव च"। (भानुमती) कर्म—दारणकर्म। शस्त्रं हि शरीरहिंसकमिति 'शसु' हिंसायामिति धात्वर्थादपि भवति। तेन यत्राहरणे एषणे वा शरीरावयवहिंसा तच्छस्त्रकर्म, शरीराहिंसकं तु यन्त्रकर्म।

वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं न योनाववचारयेत्।

वृद्धिपत्र संज्ञक शस्त्र तीक्ष्णाग्र होता है, इसलिये इसका योनि में प्रयोग नहीं करे।

वक्तव्य—वृद्धिपत्र—वृद्धिनामक ओषधी के पत्र के आकार का जिस शस्त्र का पत्र होता है, उस को वृद्धिपत्र शस्त्र कहते हैं। "वृद्धेः पत्रमिव वृद्धिपत्रं," (डल्हण)। "वृद्ध्या लक्षितपत्रमस्येति वृद्धिपत्रम्" (चक्र.) अत्र तंत्रान्तरवचनम्—सप्ताङ्गुलं प्रमाणेन वृद्धिपत्रं द्विलक्षणम्। अञ्चितं वाऽऽयताग्रं च कारयेत् कुशलो भिषक्। सप्ताङ्गुलं विभज्यैतत् प्रमाणं वृद्धिपत्रयोः। अर्धमेकाधिकं वृन्तं फलं त्रिषु च कारयेत्। इति। डल्हण ने इस के दो भेद कहे हैं— १ प्रयताग्र २ अञ्चिताग्र। इन में जो अञ्चिताग्र वृद्धिपत्र हैं। उसी को क्षुर कहते हैं। ३ चक्रपाणि—प्रयताग्रवृद्धि पत्र को क्षुर मानते हैं—"अत्रैवायताग्रं वृद्धिपत्रं क्षुरमाहुः। अत एव "क्षुरकर्तरिका संदंशैः (चि. अ. १५.) इत्याचार्यवचनं क्षुरसंज्ञान्तरवचनादुपपन्नं भवति"। इति। इसकी लम्बाई सात अङ्गुल—साढे पांच या चार अङ्गुल वृन्त तथा डेढ या तीन अङ्गुल फल होते हैं। "अर्धपञ्चाङ्गुलं वृत्तं कार्यं सार्धाङ्गुलं फलम्।" (डल्हण) "वृद्धिपत्रमिति—वृद्धिरायतत्वेन समृद्धिः पत्रे पत्राकारे फले यस्य तद् वृद्धिपत्रम्" (हा. च.) चक्रपाणि तथा हाराणचन्द्र के मत से जिस शस्त्रका फल पर्याप्त चौडा होता है, वह वृद्धिपत्र है।

"वृद्धिपत्रं क्षुराकारं छेदभेदनपाटने ।
ऋज्वग्रमुन्नते शोथे गम्भीरे च तदन्यथा ।
नताग्रं पृष्ठेतः (वाग्भटः)
"वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात् कदाचन"
(सु. चि. १५)

इसलिये प्रत्यवाय भयसे इस का उपयोग नहीं करे ।

पूर्वं शिरः कपालानि दारयित्वा विशोधयेत् ॥ ३१ ॥
कक्षोरस्तालुचिबुकप्रदेशेऽन्यतमे ततः ।
समालम्ब्य दृढं कर्षेत् कुशलो गर्भशङ्कुना ॥ ३२ ॥
अभिन्नशिरसं त्वक्षिकूटयोर्गण्डयोरपि ।

शस्त्रकर्म—प्रथम मण्डलाग्र या अंगुलिशस्त्र से शिरोविदारण कर के सिर की कपालास्थियों को निकाल कर गर्भशङ्कु से कक्षा, उरः-प्रदेश, तालु, चिबुक इन में से किसी प्रदेश में दृढता पूर्वक पकड कर के निर्हरण करे । यदि शिर का भञ्जन नहीं होने पावे तो अक्षिकूट या गण्ड में फसा कर निकाले ।

वक्तव्य—निर्हरणार्थ प्रयुक्त शस्त्रकर्म–सर्वप्रथम अग्रोपहरणीयोक्त विधानों से सुसज्जित होकर स्त्री को आश्वासन देकर शस्त्रावचारण करे । कपालानि–कर्परसंज्ञानि । (डल्हण) कपालं घटादेरवयवः । (हा. च.) अर्थात् मृत्तिका के घडे का भाग, खप्पर । सिर के पटलकी अस्थियां कपाल के साथ अधिक मिलती जुलती हैं ।·इसलिये कपाल से खोपडी का ज्ञान अधिक होता है । शिरःकपाल–चार होते हैं । "यथा पुरः कपालं पश्चात्कपालं पार्श्वकपाले द्वे चेति चत्वारि शिरःकपालानि" । (प्र. शा.) दारयित्वा दारणं विदारणम्, गर्भकुक्ष्यादेराध्मातस्य विदारणं भेदनम्. (सु. चि. १५ डल्हणः) अर्थात् मण्डलाग्र या अंगुलिशस्त्र से शिरोविदारण Perforation करके विशोधयेत्–गर्भिणीकोष्ठवाह्यानि कृत्वा । सिरकी कपालास्थियों को Crushing निकालकर शङ्कु

-Blunthooks आकुञ्चिताग्रेण बडिशविशेषेण (डल्हण) "नतोऽग्रे शंकुना तुल्यो गर्भशंकुरिति स्मृतः। अष्टांगुलायतस्तेन मूढगर्भं हरेत् स्त्रियाः" (वाग्भट) से कक्षा, वक्ष, तालु, चिबुक में लगाकर अभ्यस्तकर्मा वैद्य कर्षेत्–निर्हरण Extraction करे। अभिन्नशिरसम्–शिरसः पुनरवैगुण्येन निर्गतशिरसो विपुलांसदेशसक्तस्यायं विधिः। (डल्हण) यदि सिरका भञ्जन नहीं होसके तो अक्षिकूट "अक्षिगोलक"। ये दो होते हैं। "अक्षिकूटके अक्षिगोलके" (च. शा. ७ चक्र.) गण्ड– ये भी दो होते हैं "द्वौ गण्डौ" (च. शा. ७) "गण्डास्थिनी द्वे बाणाग्रफलसदृशाकारे गण्डयोः" (प्र. शा.) "तत्र स्त्रियमाश्वास्य मण्डलाग्रेणांगुलिशस्त्रेण वा शिरो विदार्य शिरःकपालान्याहृत्य शंकुना गृहीत्वा उरसि कक्षायां वाऽपहरेत्, अभिन्ने शिरसि अक्षिकूटे गण्डे वा (चिबुके तालुनीति संग्रहेऽधिकम्) (सु. चि. १५)

बाहुं छित्त्वांऽससक्तस्य वाताध्मातोदरस्य तु ॥ ३३ ॥
विदार्य कोष्ठमन्त्राणि बहिर्वा सन्निरस्य च।

यदि अंस से संसक्त हो तो बाहु को काट कर Cleidotomy. से निकाले। यदि गर्भका उदर वायु से आध्मात हो तो उसके उदर का विदारण करके अन्त्रों को निकाल कर Evisceration अपहरण करे।

वक्तव्य—अंसः–भुजशिरः। छित्त्वा-वामेनांसेन सक्तस्य वामं बाहुं दक्षिणेनांसेन सक्तस्य दक्षिणं बाहुं छित्त्वेत्यर्थः। (अ. द.) वाताध्मात- मशक के समान वायु से आध्मात। "अंससंसक्तस्यांसदेशे बाहू छित्त्वा, दृतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य निरस्यान्त्राणि शिथिलीभूतमाहरेत्। (सु. चि. १५)

कटीसक्तस्य तद्वच्च तत्कपालानि दारयेत् ॥ ३८ ॥

यदि कटी से संसक्तगर्भ हो तो उस के जघन कपालों को काट कर निकालना चाहिये।

वक्तव्य—"जघनसक्तस्य वा जघनकपालानीति" (सु. चि. १५)
कटी–जघनम्। जघनं नाम–श्रोणिपार्श्वं सक्थिशिरःस्थम्। (प्र. शा.)

यद् यद् वायुवशादङ्गं सज्जेद् गर्भस्य खण्डशः।
तत्तच्छित्त्वाऽऽहरेत्सम्यग्रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥ ३५॥

वायुके कारण गर्भका जो जो अङ्ग रुकावट (संग) पैदा करे, उसी उसी अङ्ग को खण्डशः सावधानी से काट काट कर निकालकर गर्भका निर्हरण तथा माता की रक्षा करे।

वक्तव्य—ऊपर विशेषपद्धति से गर्भके आकर्षण के लिये शस्त्रकर्म का निर्देश कर के सामान्यतया मूढगर्भचिकित्साका निर्देश करते हैं। सज्जेत्–संश्लिष्येत्। खण्डशः–नैकशः। छित्त्वा–दारयित्वा। यहां खण्डशः के लिये अरुणदत्त लिखते हैं कि "किलैकवेलया सकलगर्भशरीरच्छेद-नादन्तःस्थितमूढगर्भाया नार्या अपि बलवच्छस्त्रनिपातनाद् विघातः सम्भाव्यत इति खण्डश इत्युक्तम्"। इति। इसीलिये सुश्रुतने "यद् यद् यदङ्गं हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद्भिषक्। सम्यग्विनिर्हरेच्छित्त्वा"। (चि. १५) यहां यथा नार्या अङ्गं किंचिदपि न छिद्यते तथा विधेयम्।

गर्भस्य हि गतिं चित्रां करोति विगुणोऽनिलः।
तत्रानल्पमतिस्तस्मादवस्थापेक्षमाचरेत्॥ ३६॥

विगुण वायु गर्भ की नाना प्रकार की गति को उत्पन्न कर देता है, इसमें अनल्पमति वैद्य अवस्था के अनुसार उपचार करे।

वक्तव्य—"गर्भस्य गतयश्चित्रा जायन्तेऽनिलकोपतः। तत्रानल्प-मतिर्वैद्यो वर्तेत विधिपूर्वकम्" (सु. चि. १५) यहांपर उद्दिष्ट मूढगर्भों के आहरणोपायों को बतलाकर अनुक्त नाना प्रकार के मूढगर्भों के लिये चिकित्सा सूत्र कहते हैं "अवस्थापेक्षमाचरेत्" अर्थात्–मूढगर्भ प्रति अनुक्तमप्यवस्थितं कर्म कुर्यादित्यर्थः। चित्रा–नानारूपा। क्योंकि "विगुणानिलप्रतिपीडनवैचित्र्यादसंख्यगतिश्च" (वृ. वा. शा. ४।) इति।

छिन्द्याद् गर्भं न जीवन्तं मातरं स हि मारयेत् ।
सहात्मना, नचोपेक्ष्यः क्षणमप्यस्तजीवितः ॥ ३७ ॥

जीते हुए गर्भ को कभी भी नहीं काटे, क्योंकि यह गर्भ अपने साथ माता को भी मार देता है । मृतगर्भ की थोडे समय के लिये भी उपेक्षा नहीं करे ।

वक्तव्य—सः—गर्भिण्यन्तर्मृतगर्भ लक्षणों से अनभिज्ञ । "सचेतनं च शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत् । दार्यमाणो हि जननीमात्मानं चैव घातयेत् । अविषह्ये विकारे तु श्रेयो गर्भस्य पातनम् । न गर्भिण्या विपर्यासस्तस्मात् प्राप्तं न हापयेत् । नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डितः । स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशुं यथा । (सु. चि. १५) "सचेतनश्च गर्भः शस्त्रेण विदार्यमाणो विषममङ्गानि विक्षिपेत् ।" "नतु क्षणमप्युपेक्षेत गर्भशल्यम् । तद्धि निरुच्छ्वासीकृत्याशु जननीं हन्यात्" । (वृ. वा. शा. ४)

योनिसंवरणभ्रंशमक्कल्लश्वासपीडिताम् ।
पूत्युद्गारां हिमाङ्गींच मूढगर्भां परित्यजेत् ॥ ३८ ॥

योनिसंवरण, योनिभ्रंश तथा मक्कल्ल इन से पीड़ित एवं पूत्युद्गारा तथा हिमाङ्गी मूढगर्भा की चिकित्सा नहीं करे ।

वक्तव्य—योनिसंवरण–संवृतयोनित्व । (अ. द.) योनिसङ्कोच (डल्ह.) अयं हि तंत्रान्तरपठितो रोगः, तथा च मधुकोषः—"वातलान्यन्नपानानि ग्राम्यधर्मं प्रजागरम् । अत्यर्थं सेवमानाया गर्भिण्या योनिमार्गतः । मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम् । कुरुते रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः । निरुणद्ध्याशयद्वारं पीडयन् गर्भसंस्थितिम् । निरुद्धवदनोच्छ्वासो गर्भश्चाशु विपद्यते । बद्धां संरुद्धहृदयां नाशयत्याशु गर्भिणीम् । योनिसंवरणं विद्यात् व्याधिमेनं सुदारुणम् । अन्तकप्रतिमं घोरं नारभेत चिकित्सितम्" । इति । योनिभ्रंशः–स्वस्थानच्यवन । (अ. द.) योनिर्बहिर्गमन । (डल्ह.) योन्या बहिर्निर्गमनमिति यावत् । मक्कल्ल–

शिरोबस्तिकोष्ठशूललक्षणपूर्वोक्तव्याधि । "शेषानपि विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंशसंवरणमक्कल्लश्वासकासभ्रमनिपीडितान् परिहरेत्"। (सु. नि. ८) व्यवहारमें योनिसंवरणसे गर्भाशय का सङ्कोच या आक्षेप लिया जाता है इस के अनेक कारण होते हैं। किन्तु गर्भसङ्गमें गर्भ को बाहर फेंकने का अत्यधिक प्रयत्न करना भी एक कारण है। मक्कल्ल–गर्भाशयगतशूलविशेष । गर्भसङ्गके समय गर्भको बाहर फेंकने के लिये गर्भाशय के मांस में जो सख्त सङ्कोच उत्पन्न होते हैं, उन्हीं से यह तीव्रशूल होता है।

अथापतन्तीमपरां पातयेत्पूर्ववद् भिषक् ।
एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा ॥ ३९ ॥
दद्यादभ्यक्तदेहायै योनौ स्नेहपिचुं ततः ।
योनिर्मृदुर्भवेत्तेन शूलं चास्याः प्रशाम्यति ॥ ४० ॥

मूढगर्भ निकालनेके अनन्तर यदि अपरा स्वयं बाहर नहीं आवे तो वैद्य प्रथम निर्दिष्ट चिकित्सासे अपरा को बाहर निकाले । इस तरह पीडादायक शल्य के निकल जाने पर उष्णजलसे परिषेक करे । स्नानके अनन्तर शरीर पर तैल का अभ्यङ्ग कर के योनि में स्नेह पिचुको रख देवे । इस स्नेह पिचु से योनि-मृदु होती है तथा शूल भी शान्त हो जाता है।

वक्तव्य—यह मूढगर्भाहरण के अनन्तर व्यपगतगर्भशल्या के लिये उपचार बताते हैं–अपरा-जरायु । अपरां गर्भावरणं जरायुसंज्ञं यं लोका आवलमित्याचक्षते (सु. चि. १५ ड.) अपतन्ती–नहीं निकल रही । पूर्ववत्–पूर्वोक्त ।

"हिरण्यपुष्पीमूलं च" (हृ. शा. १–८३)।
"अथापतन्तीमपरां पातयेत् पूर्ववद् भिषक् ।
हस्तेनापहरेद् वाऽपि पार्श्वभ्यां परिपीड्य वा ।
धुनुयाच्च मुहुर्नारीं पीडयेद् वांसपिण्डिकाम् ।
तैलाक्तयोनेरेवं तां पातयेन्मतिमान् भिषक् ।
एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा ।
ततोऽभ्यक्तशरीराया योनौ स्नेहं निधापयेत् ।
एवं मृद्वी भवेद् योनिस्तच्छूलं चोपशाम्यति । (सु. चि. १५)

दीप्यकातिविषारास्नाहिंग्वेलापञ्चकोलकात् ।
चूर्णं स्नेहेन कल्कं वा क्वाथं वा (तां) पाययेत्ततः ॥ ४१ ॥
कटुकातिविषापाठाशाकत्वग्घिङ्गुतेजिनीः ।
तद्वच्च दोषस्यन्दार्थं वेदनोपशमाय च ॥ ४२ ॥
त्रिरात्रमेवं सप्ताहं स्नेहमेव ततः पिबेत् ।
सायं पिबेदरिष्टं च तथा सुकृतमासवम् ॥ ४३ ॥
शिरीषककुभक्वाथपिचून् योनौ विनिक्षिपेत् ।
उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान् यथास्वमुपाचरेत् ॥ ४४ ॥

दीप्यक, अतिविषा, रास्ना, हिङ्गु, एला, पञ्चकोलक, इनके चूर्ण को या कल्क को या क्वाथ को घृतादि स्नेह से स्नान एवं अभ्यङ्ग के अनन्तर पीलावे । कटुकी, अतिविषा, पाठा, शाकत्वक्, हिंगु, तेजिनी, इनका चूर्ण या कल्क या क्वाथ को स्नेह के साथ दोषोंके स्यन्दन के लिये तथा वेदना की शान्ति के लिये पीवे । यह त्रिरात्र पीवे । पुनः सप्ताह पर्यन्त स्नेह का ही पान करे । सायंकाल के समय अरिष्ट या विधिवन्निर्मित आसव को पीवे । शिरीष, अर्जुन इनके क्वाथ का पिचु योनि में रक्खे । अन्य जो उपद्रव हों, उनकी यथायोग्य चिकित्सा करे ।

वक्तव्य—यहां जो पश्चात् कर्म–उष्णजल परिसेचन, शरीर में अभ्यङ्ग योनि पिचु धारण के अनन्तर कर्मका निर्देश करते हैं । वेदना की शान्ति तथा दोष के स्यन्दनार्थ दीप्यकादि द्रव्यों के चूर्ण का स्निग्ध करके अथवा कल्क या कषाय का सेवन कराना चाहिये । प्रारम्भ में रक्तादि दोषों के निर्हरणार्थ स्निग्ध करके देना उत्तम होता है । अनन्तर जब दोषों का निर्हरण हो जावे तो इन्हीं द्रव्यों का रूक्ष प्रयोग भी कर सके है । दीप्यकः–अजमोदा (सु. चि. १५–डल्हणः) यवानिका (तत्रैव हाराणचन्द्रः) यद्यपि दीप्यकशब्द अजमोदा तथा यवानिका के लिये व्यवहृत हुआ है तथापि यहां ‘ अजवायन ’ का ग्रहण होता तथा बहिःपरिमार्जन योगों में ‘ अजमोदा ’ से अजमोद लिया जाता

है–उक्तं हि–"अन्तः परिमार्जने प्रायोऽजमोदा तु यवानिका । बहिः-सम्मार्जने ज्ञेया चाजमोदाऽजमोदिका" । इति । व्यवहार में भी प्रसूताओं के लिये यवानिका का ही उपयोग किया जाता है क्यों कि–यह कष्टार्तव् तथा सूतिकारोग में उपयोगी है। इससे गर्भाशय का संशोधन तथा वातका शमन होता है, ज्वरादि उपद्रव भी शान्त होते हैं यह अग्निवर्द्धक भी है । 'लघुर्यवानी यवनीव भासते' (सि. भे. मे.) अतिविषा–अतिक्रान्ताविषम्–विषवर्ग की होने पर भी निर्विष । "अतिविषा–दीपनीयपाचनीयसंग्राहकसर्वदोषहराम्" (च. सू. २५) हिंगु–हिंगुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्" (च. सू. २५) एला–"हन्तिहृल्लासतृट्कण्डूशिरोबस्त्यास्यरुग्वमीः" । (कै. नि.)

पञ्चकोलक—पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः । पंचभिः कोलमात्रं यत् पञ्चकोलं तदुच्यते (भ. प्र.) 'कोल' पिप्पली का पर्याय है, अतः पिप्पलीप्रधान पञ्च द्रव्यों के योग के कारण इस को "पञ्चकोल" कहते हैं। यह सब द्रव्य कोल (½ कर्ष) परिमाण में लिये जाते हैं, इसलिये भी पञ्चकोल कहते हैं। यह तीक्ष्णगुण, कटुरस, कटुविपाक, उष्णवीर्य है । चूर्ण–चूर्ण्यते पिष्यते यत् (श. क.) "शुष्कपिष्टः सूक्ष्मतान्तवपटच्युतश्चूर्णः । तस्य समस्तद्रव्यापरित्यागादाप्लुतोपयोगाच्च कल्कादभेदः ।" (अ. सं. क. अ. ८) "अत्यन्तशुष्कं यद् द्रव्यं सुपिष्टं वस्त्रगालितम् । तत्स्यात् चूर्णं रजः क्षोदः" (शा. म. ख. अ. ८) क्वाथः–निर्यूहः "वन्हौ तु क्वथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः" (च. सू. ४. अ.) कल्कः–"यः पिष्टो रसपिष्टानां स कल्कः परिकीर्तितः" (च. सू. ४) "उपलदशनादिपिष्टस्तु कल्कः" (अ. सं. क. ८ अ.)। कटुका–चरक में–भेदनीय, लेखनीय, स्तन्यशोधन, तिक्तस्कन्ध में–प्रयोग हुआ है। "बलासारोचकान् हन्ति विषमज्वरनाशिनी" रूक्षा हिमा लघुसरा दहनप्रबोधदक्षा विपाककटुका कटुकाऽतिरिक्ता । (सि. भे.)

"मम द्रव्यं विस्मयमातनोति तिक्ताकषायो मुखतिक्तताघ्नः" (लोलिम्बराज) पाठा–चरकमें स्तन्यशोधन, ज्वरहर, सन्धानीय वर्गोंमें वर्णन हुआ है। यह त्रिदोषशामक विशेषतः कफवातशामक है। "पाठा. . . .शाकं. . . . विद्याद् ग्राहि त्रिदोषघ्नम्" (च. सू. २७) शाकत्वग्–शाकोनामौषधिः 'शेगुन' इत्याख्यायते। (हा. च.) सुश्रुतने सालसारादिगण में वर्णन किया है। "शाको भूमिसहः पृष्ठपत्रोदर-सुकर्कशः। महापत्रो रागगर्भो मंजरीकः सुदारुकः"। (शि.) शाकः कर्कशपत्रवृक्षः सागवान् इति लोके (ड.) (शि.) तेजिनी–तेजबल। "तेजस्विनी कफश्वासकासास्यामयवातहृत्" (भा. प्र.) चव्यम् (हा. च.) त्रिरात्र–मूढगर्भाकर्षणदिनात् प्रभृति कार्यम्। सप्ताह्–त्रिरात्रानन्तर सप्ताह केवल प्रकृत्यादि वश यथायोग्य स्नेहपान करे। "एवं त्रिरात्रं कृष्णादिचूर्णपानेन शाकत्वगादिचूर्णपानेन वाऽपहृतकोष्ठरक्तक्लेदादिदोषायाः सप्ताहं ह्रस्व-मात्रया स्नेहपानम्। तेन विशुद्धवाताशयाया दशाहादूर्ध्वं स्निग्धपथ्याल्प-भोजनम्। नित्यं बाह्यावपि स्वेदाभ्यङ्गाववश्यं कार्यौ"। (डल्हणः) शिरीषः–शिरसीष्यते शिरीषः। शीर्यते वा सौकुमार्यात्। सिरस। "शिरीषो विषघ्नानाम्"। (च. सू. २५) ककुभः–ककुभः सन्त्यस्य दिग्व्यापकत्वात्–ककुभः। अर्जुनवृक्षः। यह रक्तवहसंस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्योंमें परम हृद्य हैं। "ककुभोऽर्जुननामाख्यो नदीसर्जश्च कीर्तितः"। (भा. प्र.) चरक में कषायस्कन्ध उदर्दप्रशमन में, सुश्रुत में न्यग्रोधादिगण, सालसारादि गणमें इसका वर्णन हुआ है। ककुभः सुगन्धिमूलो विटपः। (डल्हणः) पिचु–विकेशिकाप्राय कार्पासादिमय। उपद्रव–वातरोगज्वरादि। यथास्व–सात्म्याद्यपेक्षया यथायोग।

कृष्णातन्मूलशुण्ठ्येलाहिङ्गुभार्गीः सदीप्यकाः।
वचामतिविषां रास्नां चव्यं संचूर्ण्य पाययेत्।
स्नेहेन दोषसन्दार्थं वेदनोपशमाय च।
क्वाथं चैषां तथा कल्कं चूर्णं वा स्नेहवर्जितम्।

शाकत्वर्गिघृवतिविषापाठाकटुकरोहिणीः ।
तथा तेजोवतीं चापि पाययेत् पूर्ववद् भिषक् ।
त्रिरात्रं पञ्चसप्ताहं ततः स्नेहं पुनः पिबेत् ।
पाययेतासवं नक्तमरिष्टं वा सुसंस्कृतम् ।
शिरीषककुभ्यां च तोयमाचमने हितम् ।
उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान् यथास्वमुपाचरेत् ।
पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम् ।
रसो दशाहं च परं लघुपथ्याल्पभोजना ॥ ४५ ॥

वातहर द्रव्यों से सिद्ध पय दश दिन तक भोजन में हितकारी होता है । इस के उत्तर दश दिन तक मांसरस हित है । बीस दिन के अनन्तर लघु पथ्य तथा अल्प भोजन करे ।

वक्तव्य—वातहर-रास्नादि, (अ. द.) शतपुष्पादि–(डल्हण) मेरे मत में "एरण्डमूलं रास्नाऽथ दशमूलं प्रसारिणी । मुद्गपर्णी माषपर्णी शतमूली पुनर्नवा । अश्वगन्धाऽमृतामांसी बला नागबला तथा । गणो वातहरोऽयन्तु वातामयहरः परम्"। (र. त. २०) सिद्ध-शृत क्षीर के साथ वातहर द्रव्य-दशमूलादि अपना सम्पूर्ण सार भाग क्षीरादि में नहीं छोडते हैं, इसलिये प्रथम इन द्रव्यों को जल में पकाकर उस के काथ के साथ क्षीर को पकावें । "क्षीरादिसहितं च द्रव्यं न सम्यङ्मुक्तरसं भवतीति वारिकाथपूर्वकं-क्षीराद्यैस्तदुपदेशोऽनुपदग्धं काथयेत्" (अ. सं क. ८ अ.) रसः–मांसरसः । "रसमत्र विष्किराणामेव विशेषेणोपदिशन्त्याचार्याः" (हा. च.) "रसस्तर्पणीयानाम्" (च. सू. २५) "क्षये मांसरसः परम्"। (च. सू २८) "पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम् । रसं दशाहं शेषे तु यथायोगमुपाचरेत्"। (सु. चि. १५)

स्वेदाभ्यङ्गपरा स्नेहान् बलातैलादिकान् भजेत् ।
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यः सा क्रमेण सुखानि च ॥ ४६ ॥

स्वेदन तथा अभ्यङ्ग का सेवन करती हुई बलातैलादि स्नेहों का सेवन करे । चतुर्मास के अनन्तर क्रमशः अन्नपानादि सुख का सेवन करे ।

वक्तव्य—"सर्वतः परिशुद्धा च स्निग्धपथ्याल्पभोजनी । स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेत् क्रोधविवर्जिता ।... व्युपद्रवां विशुद्धां च ज्ञात्वा च वरवर्णिनीम् । ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो विसृजेत् परिहारतः । (सु. चि. १५) निष्कर्ष-त्रिदिन दीप्यकादि चूर्णपानों से अपहृत-कोष्ठरक्तक्लेदादिदोषा स्त्री को सप्ताह पर्यंत अल्पमात्रा में स्नेह पान करावे । इस समय सुसंस्कृत आसव एवं अरिष्ट का भी प्रयोग रात्रि में करे । योनिशुद्ध्यर्थ-शिरीषादि द्रव्यों के क्वाथ की पिचु का अभ्यन्तर प्रयोग करता हुआ उपद्रवों की शान्ति का भी ध्यान रखे । दशाहोत्तर विशुद्ध वाताशया होने पर स्निग्ध, पथ्य, अल्प भोजन तथा इस द्वितीय दशाह में वातहर सिद्ध पयःपान, तृतीय दशाह में मांस रस, इस के बाद लघु पथ्याल्पभोजन तथा स्वेदाभ्यङ्गपरा होती हुई बलातैलादि का सेवन करे । पञ्चम मास से निष्क्रान्तमूढ गर्भा स्त्री क्रमशः अन्नपान, आहार, विहारादि का सेवन करे । यहांपर मूढगर्भा के लिये कर्तव्य का वर्णन किया गया है ।

बलामूलकषायस्य भागाः षट् पयसस्तथा ।
यवकोलकुलत्थानां दशमूलस्य चैकतः ॥ ४७ ॥
निष्क्राथभागो भागश्च तैलस्य तु चतुर्दश ।
द्विमेदादारुमञ्जिष्ठाकाकोलीद्वयचन्दनैः ॥ ४८ ॥
सारिवाकुष्ठतगरजीवकर्षभसैन्धवैः ।
कालानुसार्याशैलेयवचागुरुपुनर्नवैः ॥ ४९ ॥
अश्वगन्धावरीक्षीरशुक्लायष्टीवरारसैः ।
शताव्हाशूर्पपर्ण्येलात्वक्पत्रैः श्लक्ष्णकल्कितैः ॥ ५० ॥

पक्वं मृद्वग्निना तैलं सर्ववातविकारजित् ।
सूतिकाबालमर्मास्थिहतक्षीणेषु पूजितम् ॥ ५१ ॥
ज्वरगुल्मग्रहोन्मादमूत्राघाताऽन्त्रवृद्धिजित् ।
धन्वन्तरेरभिमतं योनिरोगक्षयापहम् ॥ ५२ ॥

बलातैल—बलामूल के क्वाथ के षड्भाग, दुग्ध ६ भाग, यव, कोल, कलत्थ, दशमूल इन सब का मिलित क्वाथ १ भाग, तिलतैल का चतुर्दश भाग, मेदा, महामेदा, दारु मञ्जिष्ठा, काकोली, क्षीरकाकोली, चन्दन, सारिवा, कुष्ठ, तगर, जीवक, ऋषभक, सैन्धव, कालानुसार्या, शैलेय, वचा, अगुरु, पुनर्नवा, अश्वगन्धा, शतावरी, क्षीरशुक्ला, यष्टी, त्रिफला, रस (बोल) शताह्वा, शूर्पपर्णी, एला, त्वक्, तेजपत्र, इन के श्लक्ष्ण कल्क को मृद्वग्नि द्वारा तैल पाक करे । यह तैल सर्व वातविकार को नष्ट करता है । सूतिका, बालरोग, मर्म, अस्थिहत, क्षीणपुरुषों में प्रशस्त है । ज्वर, गुल्म, ग्रह, उन्माद, मूत्राघात, अन्त्रवृद्धि नाशक है । धन्वन्तरि भगवान के अभिमत है, योनिरोग तथा क्षयरोग नाशक है ।

वक्तव्य—अत्र अरुणदत्तः—"एतदेव स्पष्टीक्रियते शिष्यहितार्थम्"। तत्र यदा षोडश पलानि तैलस्य श्रपयितव्यानि तदा बलामूलपलानि चतुर्विंशतिर्भवन्ति, जलपलशतानि त्रीणि चतुरशीत्यधिकानि, ततश्चतुर्थांशेन षण्णवतिः क्वाथपलानि, क्षीरपलानि षण्णवतिः । यवादीनां पलानि चत्वारि, पानीयपलानि चतुःषष्टिः, षोडशपलानि कषायस्य । द्विमेदादीनि द्रव्याणि प्रत्येकमर्धकर्षप्रमाणानि रक्तिकया पञ्चमभागसहितया सधानयाऽधिकानीति" ।

बला–बलत्यनया बला । 'बल संवरणे' । बलमस्त्यस्या इति वा । खरेंटी । 'बला संग्राहिक - बल्य - वातहराणाम्" । (च. सू २५) कोलः–बदरी । मध्यप्रमाणो बदर इत्येके । "कर्कन्धुकोलबदरशब्देन त्रिप्रकारबदरग्रहणम्" । (च. क. ११ श्लो. ८) चक्रपाणिः। "कर्कन्धुकोलबदर-

मामं वातपित्तजित्" (सु. सू. ३९) कुलत्थः-कुले तिष्ठति । कुलथी । चक्रपाणिने श्वेत, रक्त, कृष्ण, तथा चित्र ये चार भेद कहे हैं । "कुलत्थश्च शुक्लकृष्णचित्रलोहितभेदेन चतुर्विधो भवति तथा ग्राम्यवन्य-भेदेन च द्विविधोऽपि, अत एव तन्त्रान्तरे "वन्यः कुलत्थस्तद्वच्च विशेषान्नेत्ररोगनुत्" इति "कुलत्था ग्राहिणः कासहिक्काकासार्शसां हिताः" इति (च. सू. २७) चक्रपाणिः । दशमूलम्—अनयोर्दशमूलमुच्यते' । लघु महत्पञ्चमूलयोरित्यर्थः । एषां वातहरावाद्यौ (सु. सू. ३८) एकत्र कथितानां यवादीनां दशमूलस्य च तैलसमो निष्काथभाग एको ग्राह्यः । द्विमेदा—मेदाद्वयम्—मेदा चान्या महामेदा । मेदा—स्वल्पपर्णी मेदगन्धोऽल्पवृक्षसंज्ञकः, स च काष्ठविशेषो नखच्छेद्यो देशान्तरादवगन्तव्यः । महामेदाऽष्टछिद्रान्विताः काष्ठविशेषः, स च दक्षिणोत्तरपथे पर्वतेषु प्रसिद्धः । तत्र देवमणिरिति प्रसिद्धः । (आढमल्ल) मेदाऽभावे अश्वगन्धा महामेदा तु सारिवा" इति । दारु—देवदारु । "देवानां प्रियं दारु यस्य तत् काष्ठचन्दनस्य देवप्रियत्वात्" अयं हि चरके स्तन्य-शोधने, अनुवासनोपगे, महाकषाये च (सू. अ. ४) कटुकस्कन्धे (वि. ८ अ.) ('किलिम' नाम्ना) तथा सुश्रुते वातसंशमने वर्गे 'भद्रदारु' नाम्ना च (सू. अ. ३९) पठ्यते । मञ्जिष्ठा—मञ्जौ मनोज्ञे वर्णे तिष्ठति । स्वनामख्यातलता । काकोलीद्वयम्—काकोली—क्षीरकाकोली च । काकोलीयुगलाभावे निक्षिपेच्च शतावरीम्" । इति । चन्दनम् श्वेतचन्दनम् । चन्द्यते—ल्हाद्यतेऽनेनेति चन्दनम् । परमसुगन्धि प्रसिद्ध-वृक्षः ।" स्वादे तिक्तं कषे पीतं भेदे रक्तं तनौ सितम् । ग्रन्थिकोटरसंयुक्तं चन्दनं श्रेष्ठमुच्यते" । (भा. प्र.) "नाकारि पुष्पं खलु चन्दनस्य" । इत्यभियुक्ताः । "चन्दनं दुर्गन्धहर—दाहनिर्वापणलेखनानाम्" । (च. सू. २५) सारिवा—अनन्तमूल । यह श्वेत और कृष्ण भेद से दो प्रकार की होती है ।' "सारिवा दाडिमीपत्रा श्वेतरेखांकितच्छदा । दुग्धगर्भा शिंबिफला तूलिनीकृष्णवल्लरी" (शि.) "सारिवा जम्बूपत्रा दुग्धगर्भा वल्ली स्वनामप्रसिद्धा कृष्णसारिवा "चन्दनगन्धा" । (ड)

'सारिवे चोभे' (च. चि. ७-१४५), कुष्ठम्-कुष्णाति रोगमिति। स्वनामख्यातमध्यमगन्धभेषजविशेषः। "कुष्ठं वातहराभ्यङ्गोपनाहोपयोगिनाम्" (च. सू. २५) "यः कुष्ठचूर्णं रजनीविरामे मध्वाज्यसम्मिश्रितमत्ति नित्यम्। स मत्तमातङ्गबलः सुगन्धिर्वाग्मी चिरायुश्च भवेन्मनुष्यः"। (रा. मा.) कालानुसार्या उत्पलसारिवा (अ. द.) उशीरम्-(इंतीन्दुः) शैलेज - शिलापुष्प। "छाडछरीला' पहाडों पर पुष्पके सदृश होता है। वचा-प्रसिद्ध। भावप्रकाश ने इसकी चार जातियों का वर्णन किया है। यहां घोडवचही लें। "सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा। कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः"। (सु. शा. १०) अगुरु न गुरुर्यस्मात्। स्वनामख्यातसुगन्धिकाष्ठविशेषः। इदञ्च कृष्ण-दाह-स्वादु-मंगल्य-काष्ठागुरुभेदेन पञ्चविधम्। "रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानाम्"। (च. सू. २५) पुनर्नवा-पुनर्नवेव (छिन्नेऽपि) विशाखत्वात्। पुनरभीक्ष्णं नवा। नूयते वा। (स्वनामख्यात-पत्रशाकभेदः) इयं हि त्रेधा-श्वेता, रक्ता नीला चेति। "पुनर्नवा च रक्तायां" इति वैजयन्ती। अश्वगन्धा-अश्वस्येव गन्धो यस्याः। कंदिनी वाजिगन्धा स्यात् क्षुपा पर्पोटिवत् फला। वनजा वृत्तपर्णी च कन्दो वाजीकरः स्मृतः"। (शि.) वरी-शतावरी। शतमावृणोति (आ. वृ. अच् गौ. ङीष्) "भुक्त्वा वरीं क्षीरयुतां विलासी भुंक्ते शतं सुन्दरि! सुन्दरीणाम्" (वै. जी.)। क्षीरशुक्ला-क्षीरविदारी। क्षीरेण शुक्लेत्यर्थः। "अन्या क्षीरविदारी स्यादिक्षुगन्धेक्षुवल्ल्यपि। क्षीरवल्ली क्षीरकन्द क्षीरशुक्ला पयस्विनी"। (ध. नि.) क्षीरकाकोलीति-इन्दुः। वरा-त्रिफला। "फलत्रिकं च त्रिफला सा वरा च प्रकीर्तिता"। (भा. प्र.) रसः-बोलः। इस का वृक्ष गुग्गुलु के समान होता है। इस के काण्ड में क्षत करने से एक सान्द्र निर्यास निकलता है, वही बोल है। इस का प्रयोज्य अङ्गनिर्यास होता है। हीराबोल (हि. म. गु.) "बोलं तु कटुतिक्तोष्णं कषायं रक्तदोषनुत्। कफपित्तामयान् हन्ति प्रदरारिरुजापहम्"

(रा. नि.) शताह्वा—"शतं आह्वा यस्याः। शतपुष्पा। "ज्वरानिलश्लेष्महृगर्तिशूलव्रणक्रिमिच्छर्दनरुक्षु शस्ता। उष्णा कटुः पित्तकरी शताह्वा वैश्वानरं दीपयति प्रसह्य"। (सि. भे. मं.) सोया (हि.) "विशेषाद् योनिशूलनुत्" (भा. मि.) शूर्पपर्णी—मुद्गपर्णी। शूर्प इव पर्णान्यस्याः। पाठान्तरमें शूर्पपर्णी—शूर्प्यपर्णी नाम भी दिया है। चरक वातव्याधिचिकित्सित में बलातैल योग में सूर्प्यपर्णी नाम दिया है। महाकल्याणघृत के योग में शूर्पपर्णी के स्थान में द्विमाषं यह चरक पाठ है, इसकी व्याख्या में माषराजमाषयोर्ग्रहणम् (च. पा.) एला—एलयति मुखदौर्गन्ध्यमित्येला। स्वनामप्रसिद्धद्रव्यम्। एला द्विविधा—सूक्ष्मा स्थूला च। अस्या बीजं ग्राह्यम्। "एलाद्वयं शीतलतिक्तमुक्तं सुगन्धि पित्तार्तिकफापहारि। करोति हृद्रोगमलार्तिबस्तिपुंस्त्वघ्नमत्र स्थविरा गुणाढ्या" (नरहरिः) एला सूक्ष्मफला श्रेष्ठा। श्रीलक्ष्मीरामस्वामी। त्वक्—दालचिनी। त्वगिव पत्रमस्य इति रामाश्रमी। वृक्षशाकलत्वादिति क्षीरस्वामी। "त्वक् स्वादुष्णा तिक्ता स्वाद्वी कट्वी लघ्वी रुक्षा रुच्या। जन्तावामे वातव्याधौ श्लेष्मोद्रेके पाण्डौ पूज्या"। (श्रीकृष्णरामभट्ट) पत्रम्—तेजपत्रम्। "पत्रकं कफवातास्रहृल्लासारोचकापहम्"। (शोढलः) द्विमेदादि एकत्रिंशद् द्रव्यों को चार पल लेवे। यवकोलकुलत्थों का ३ अंश दशमूल दशमांश। कुछ व्याख्याकार यवकोल कुलत्थों का अंशत्रय तथा दशमूल का चतुर्थ अंश इस तरह भाग कल्पना करते हैं। वह उचित प्रतीत नहीं होता है। दशमूलाधिक्य से वातरोग हन्तृत्वगुण तैल में बढ जाता है. वह गुण यवादि से नहीं होता है। मृद्वग्निना—मृदुशब्दोऽग्निविशेषणाय प्रयुक्तः। किल खरतरदहनसम्पर्कात् क्षीरबाहुल्येनास्य तैलस्य झटिति पाकातिक्रान्ततापि किञ्चित्सम्भाव्यते। (अ. द.) सूतिका—सूतिकारोग। प्रसूतिविषये भवा रोगास्ते सूतिकारोगाः कथिताः। प्रसवोत्तरस्त्रीजननेन्द्रियों को स्वाभाविक स्थिति में आने में जितना समय लगता है, इस काल को सूतिकाकाल कहते हैं।"

"इस कालमें प्रसूता स्त्री को सूतिका कहते हैं। इस अवधि में होने वाले रोगों को सूतिकारोग कहते हैं।" अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता। शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम्"। (मा. नि.) "ज्वरातिसारशोथश्च शूलानाहबलक्षयाः। तन्द्रारुचिप्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः। कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसबलाग्नितः। ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः" इति-आढमल्लः। "सूतिकाभवत्वेन-आश्रयाश्रितयोरभेदोपचारात् सूतिकानाम्नोच्यन्ते"। (मधुकोषः)

बस्तिद्वारे विपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि।
जन्मकाले ततः शीघ्रं पाटयित्वोद्धरेच्छिशुम् ॥ ५३ ॥

यदि गर्भ बस्तिद्वार में आकर रुक जावे तथा माता का शरीर शान्त होजावे तथा माता की कुक्षि गति करती हो तो गर्भ को जीवित समझकर शीघ्र माता के बस्ति और द्वार का पाटनकर शिशु को बाहर निकालना चाहिये। वक्तव्य-विपन्नायाः-मृताया गर्भिण्याः। प्रस्पन्दते-अत्यन्तं चलति। अथात् गर्भस्य जन्मकाले जीवतो यदि माता विपन्ना स्यात् ततः कुक्षिप्रस्पन्दनेन जीवन्तं गर्भं विदित्वा ततो बस्तिद्वारे विपाट्य शिशुमुद्धरेदित्यर्थः। यह इन्दुसम्मत अर्थ है। इस अर्थ से उदरपाटन का स्थान निर्दिष्ट होता है। अरुणदत्त बस्तिद्वारे-का सम्बन्ध कुक्षि-प्रस्पन्दन के साथ मानते हैं। गर्भिण्या मृताया यदि कुक्षिः प्रस्पन्दतेऽत्यन्तं चलति, कप्रदेशे ? बस्तिद्वारे। इति। सुश्रुत में यही कुछ पाठ भेद से आया है- "बस्तमारविपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि। तत्क्षणाज्जन्म-काले तं पाटयित्वोद्धरेद् भिषक्" यहां डल्हणाचार्य बस्तमार का अर्थ-'बस्तमारः छगलवत् मरणम्। एतेन ग्रीवामोटनेनाशुतममक्लिष्टं मरण-मुक्तम्।' श्रीहाराणचन्द्रजीने-हृदय का यही पाठ लिया है।

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।
अश्मन्तकः कृष्णतिलास्ताम्रवल्ली शतावरी ॥ ५४ ॥

वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा ।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा च मधुयष्टिका ॥ ५५ ॥
बृहतीद्वयकाश्मर्यक्षीरिशुङ्गत्वचा घृतम् ।
पृश्निपर्णी बला शिग्रुः श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ॥ ५६ ॥
शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कसेरु मधुकं सिता ।
सप्तैतान् पयसा योगान् अर्धश्लोकसमापनान् ॥ ५७ ॥
क्रमात्सप्तसु मासेषु गर्भे स्रवति योजयेत् ।

आधे श्लोकों में समाप्त किये इन सप्तप्रयोगों को दुग्ध के साथ क्रमशः सात मासों में गर्भस्राव होने पर प्रयोग करना चाहिये । प्रथम मास में—मुलहटी, शाकबीज, पयस्या, देवदारु । द्वितीय मासमें—अश्मन्तक, कृष्णतिल, ताम्रवल्ली, शतावरी । तृतीय मासमें—वृक्षादनी, पयस्या, लता, उत्पल, सारिवा । चतुर्थ मासमें—अनन्ता, सारिवा, रास्ना, पद्मा, मधुयष्टिका । पञ्चम मासमें—बृहतीद्वय, काश्मरी, क्षीरिशुङ्ग तथा त्वचा एवं घृत । षष्ठ मासमें—पृश्निपर्णी, बला, शिग्रु, श्वदंष्ट्रा, मधुपर्णिका । सप्तम मासमें—शृङ्गाटक, बिस, द्राक्षा, कसेरु, मधुक, सिता ।

वक्तव्य—स्रवद्गर्भायाः प्रथमतः सप्तमासं यावत् चिकित्साक्रमः । एते योगाः पयसा युताः प्रथममासमारभ्य सप्तममासान् यावदनुक्रमेण प्रयोज्याः । तत्र मधुकादीनि चत्वारि प्रथमे मासे स्रवति गर्भे योजयेत् । शाको महावृक्षः कर्कशपत्रः तस्य बीजम् । (ड.) शाकं खरच्छदम् । (अ. द. सू. १५) पयस्या अर्कपुष्पी, गयी तु पयस्यां क्षीरविदारीं, क्षीरकाकोलीं वा ब्रूते । (ड.) अश्मन्तकादीनि द्वितीये । अश्मन्तकः कोविदारसदृशोऽम्लपत्रः 'अम्ललोटक' इति लोके (ड.) अश्मन्तको मालुकपर्णः (इन्दुः) यमलपत्रकः (अ. द.) पाषाणभेदः । (हा. च.) ताम्रवल्ली—रामतरुणी, मञ्जिष्ठामपरे । (ड.) इदमेव इन्दुः अरुणदत्तश्च वदतः । तृतीये—वृक्षादन्यादीनि पञ्च । वृक्षादनी—द्रुमव्याधिः सैव वन्दाकः । लता प्रियङ्गुः । गौरसारिवेत्यन्ये । उत्पलसारिवा कृष्णसारिवा । चतुर्थे—अनन्तादीनि पञ्च । अनन्ता दूर्वा (इन्दुः) पद्मा पद्मचारिणी, भार्गीमपरे (ड.)

पञ्चमे-बृहतीद्वयादीनि। बृहत्यौ स्थूलफला चणकबृहती च। (ङ) क्षीरिशुङ्गा क्षीरिवृक्षाणां वटादीनामविकसिता प्रवालाः (ड.) शुङ्गमङ्कुरम् (इन्दु.) क्षीरिवृक्षाणां शुङ्गत्वचो यथालाभं प्रयोज्याः। पृश्निपर्ण्यादीनि षष्ठे-श्वदंष्ट्रा गोक्षुरकः। मधुपर्णिका जीवन्ती (इन्दु.) मधुयष्टिका (ड.) सप्तमे-मासे शृङ्गाटकादीनि प्रयोज्यानि।

कपित्थबिल्वबृहतीपटोलेक्षुनिदिग्धिकात् ॥ ५८ ॥
मूलैः शृतं प्रयुञ्जीत क्षीरं मासे तथाऽष्टमे।
नवमे सारिवानन्तापयस्यामधुयष्टिभिः ॥ ५९ ॥
योजयेद् दशमे मासि सिद्धं क्षीरं पयस्यया।
अथवा यष्टिमधुकनागरामरदारुभिः ॥ ६० ॥

कपित्थ, बिल्व, बृहती, पटोल, इक्षु, निदिग्धिका इन छः द्रव्यों के मूलों से शृत दुग्ध का अष्टम मास में प्रयोग करे। नवम मास में शारिवा–अनन्ता, पयस्या मधुयष्टिका इन चार द्रव्यों से कथित क्षीर का प्रयोग करे। दशम मास में पयस्या से सिद्ध अथवा यष्टीमधु नागर देवदारु इन त्रितय से सिद्ध क्षीर का प्रयोग करे।

वक्तव्य—अष्टमप्रभृति गर्भस्याप्यायना योगा अत्र निर्दिश्यन्ते। अष्टमे मासि कपित्थादीनां मूलैः सिद्धं क्षीरं पाययेत्। नवमे—सारिवादि-चतुष्टयेन सिद्धं क्षीरम्। दशमे—पयस्यया, पयस्या क्षीरविदारी। सिद्धम्। अथवा यष्टिमधुकादित्रयेण सिद्धं क्षीरमुपयोजयेदिति। सुश्रुतेन—इम एव श्लोकाः पठिताः। "एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यती"ति विशेषत-श्चोक्तम्। अत्र पटोलमूलं मनागेवोपयोज्यम्। विरेचनभयादिति हाराणचन्द्रः।

अवस्थितं लोहितमङ्गनाया
वातेन गर्भं ब्रुवतेऽनभिज्ञाः।
गर्भाकृतित्वात् कटुकोष्णतीक्ष्णैः
स्रुते पुनः केवल एव रक्ते ॥ ६१ ॥
गर्भं जडा भूतहृतं वदन्ति
मूर्तेर्न दृष्टं हरणं यतस्तैः।

ओजोशनत्वादथवाऽव्यवस्थै-
र्भूतैरुपेक्ष्येत न गर्भमाता ॥ ६२ ॥

स्त्रीका रक्त जब वात से रुक जाता है, तब अनभिज्ञ वैद्य उसको गर्भ कहते हैं। क्योंकि इस के अवरोध से गर्भ के लक्षण होने लगते हैं तथा कटु-उष्ण तीक्ष्ण द्रव्यों के सेवन से पुनः रक्त के स्राव होनेपर जड़लोग गर्भ 'भूतहृत' हो गया ऐसा कहते हैं। क्यों कि शरीर का हरण भूतों से होता हुआ नहीं देखने में आया। यदि ये भूत ओज को खाने वाले हैं, यद्वा अव्यवस्थित मर्यादावाले हों तो वे भूत गर्भमाताकी उपेक्षा नहीं करेंगे अर्थात् उस को कैसे नहीं खावेंगे।

वक्तव्य—अनभिज्ञाः—अबुधाः सौम्यबृंहणाहारसेवनात् पवनेन कुपितेन अवस्थितं निरुद्धं—अङ्गनायाः लोहितं—गर्भं ब्रुवते—गर्भ इत्यवधारयन्ति। अनेन—असृङ्निरोधेऽपि गर्भभ्रमो भवतीति प्रोच्यते। येन हेतुना याथातथ्यपरिज्ञानबहिष्कृता अगर्भामेव योषितं गर्भिणीं व्यवस्यन्ति। कुतस्तेषां गर्भभ्रमो भवतीति? आह—गर्भाकृतित्वादिति। गर्भस्य आकृतिः—चिह्नम्, तथा "हृल्लासदौर्हृद—" (हृ. नि. ११-५१) इत्यादि तथा चरके (च. चि. १३-२५, ५९, ६७) सुश्रुते (नि. ७-८, चि. १४, ५) पुनश्चरके (नि. ३-१४, शा. २-८-१०) इत्यादि रक्तगुल्मवातोदरनिदानोक्तं लक्षणम्। इदं हि वातरुद्धलोहितावस्थितौ गर्भस्थितौ चोभयत्र समानम्। अथ च स्त्रियाः पवनेन स्तम्भितं रक्तं बहिरस्रवत् गर्भाशये विवर्धमानं सद् गर्भस्य लक्षणं कुरुते। अर्थात् गर्भाशये हि विवर्धमानं रुधिरं प्रभावाद् गर्भलिङ्गानि कानिचिद् दर्शयतीत्यर्थः। अत एव चरके—"दृष्ट्वाऽसृगेकं न च गर्भलिङ्गं"। न गर्भं ग्रन्थ्याद्याकारमित्यर्थः। कटुकोष्णादिभिः—वातेन अवस्थितं तदेव लोहितं कटुकोष्णतीक्ष्णैः—स्तम्भितरक्तस्रुतिहेतुभिः स्रुते केवल एव रक्ते—गर्भरहिते अथवा—अतिसूर्यश्रमरोषैस्तथा वायोरनुलोमकैरुष्णाहारपानविहारैः काकतालीयन्यायेन साधुभिषजा वा प्रयुक्तैः स्वयमेवौषधनिरपेक्षया वा प्रवृत्ते

रुधिरे जडाः न च गर्भं दृष्ट्वा भूतैर्हृतमिति दुर्बुद्धिपरिकल्पितं–प्रत्यक्षेणा-पश्यन्तो वदन्ति। अनेन काल्पनिकगर्भलक्षणनाशे जनानां कथं भूता-हरणबुद्धिर्भवतीति दर्शितम्। अत्र पुनःशब्दः शिरसः कम्पं कृत्वा भूतै-र्गर्भस्य हरणं न सम्भवतीति। असम्भाव्याङ्गीकरणेन सकलजनप्रसिद्धेन जडत्वं सहेतुकत्वेन प्रकटितं भवति। अत एव वदति–भूतैर्न दृष्टहरणं यतस्तैः इति। रक्षसां शरीरापहरणेऽशक्तिः। ओजोशनत्वादिति–ओजसः प्रमाणमर्धाञ्जलिः, शरीरस्य ओजोभोजिनां आहारहेतोः न शरीरमिष्टम्, किन्तु–ओज एव इष्टम्। ओजोभोजित्वात्। अतः रक्षोभिरोजसोऽपहरणं सम्भाव्यते न तु शरीरापहरणम्। अथवा–अव्यवस्थावस्थितैः, भूतैर्गर्भस्य। माता नोपेक्ष्येत, अपि तु ह्रियेतैव। इति। अत्र चक्रपाणिः "यदि अनाहारभूतमपि गर्भं हरेयुस्तदा मातुर्नितरामाहारभूतमोजोलब्धावका-शत्वेन हरेयुः।" इति।

असृङ्निरुद्धं पवनेन नार्या गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित्।
गर्भस्य रूपं हि करोति तस्यास्तदसृगस्रावि विवर्धमानम्।
तदग्निसूर्यश्रमशोकरोगैरुष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम्।
दृष्ट्वाऽसृगेकं न च गर्भसंज्ञं केचिन्नरा भूतहृतं वदन्ति।
ओजोशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम्।
गर्भं हरेयुर्यदि तेन मातुर्लब्धावकाशा न हरेयुरोजः।

(च. शा. २)

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद् वाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयटीकायां श्रीवैद्य कन्हैयालाल भेडात्मज शंकरलालविरचितायां अर्थप्रकाशिकायां द्वितीये शारीरस्थाने गर्भव्यापन्नाम द्वितीयोऽध्यायः।